प्रकाशक :
केदार नाथ सिंह,
उदयाचल,
राष्ट्रकवि दिनकर पथ,
राजेन्द्र नगर,
पटना ८00 016

प्रथम संस्करण : दिसम्बर, १९५४
पुनर्मुद्रण . अगस्त, १९८६

मूल्य तीस रुपये (Rs 30.00) मात्र

मुद्रक
धीरेन्द्र कुमार शर्मा,
डी.एस. प्रिण्टर्स द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-110 032

दो शब्द

पिछले कोई पाँच वर्षों मे मैंने जो थोडी-सी स्फुट कविताएँ लिखी, 'नील कुसुम' उन्हीमे से कुछ का सग्रह है। इस अवधि मे लिखी हुई मेरी कुछ नयी कविताएँ 'दिल्ली' और 'नीम के पत्ते' नामक सग्रहो मे भी गयी हैं। इसी प्रकार, पाँच-सात ऐसी कविताएँ भी है, जो पहले के सग्रहो मे निकल चुकी थी। उन्हे मैंने 'नील कुसुम' मे इसलिए सम्मिलित कर दिया है कि उनकी अन्तर्धारा और तकनीक 'नील कुसुम' की कविताओ से अधिक मेल खाती है।

कविताएँ रचता तो कवि अपने आनन्द के लिए है, किन्तु, सग्रह प्रकाशित करने मे उसका उद्देश्य पाठको को आनन्द देना होता है। लेकिन, सभी पाठक सभी प्रकार का आनन्द नही ले सकते। इसलिए, आलोचना अनिवार्य हो जाती है। आलोचना काव्य मे प्रयुक्त कौशल का रहस्य उद्घाटित करती है; उस मार्ग का भेद खोलती है, जिस पर चलकर कवि ने अपने भावो को अभिव्यक्त किया है, अपनी कविता मे आनन्द, प्रभाव या चमत्कार उत्पन्न किया है। इसीलिए, रचनात्मक आलोचना के पढने से पाठक की आनन्दग्राहिणी योग्यता का प्रसार होता है। प्रत्येक नया कवि आलोचक से आलोचना की नयी कसौटी की माँग करता है, क्योकि आलोचक नये कवि को पुरानी कसौटी पर कसके उसके साथ न्याय नही कर सकता। इसलिए, जब भी कविता मे नवीनता आती है, तब आलोचना भी ईषत् हो जाती है।

ये सारी बाते मै इसलिए लिख रहा हूँ कि जिस कसौटी पर 'रेणुका', 'रस-वन्ती', 'हुंकार' और 'सामधेनी' की कविताएँ कसी गयी हैं, उसपर 'नील कुसुम' की कविताओ को कसना ठीक नही होगा। ये 'उतार की कविताएँ' हो सकती हैं, किन्तु, ये सर्वथा नवीन है और इनकी तकनीक काफी लम्बे अनुभव से ही निकली है। विचित्र बात है कि 'नील कुसुम' के रचयिता के सहज बन्धु 'रेणुका' और 'हुकार' के रचयिता नही, वरन् वे लोग है जिन्हे, सही नाम के अभाव मे, हम प्रयोगवादी कहने लगे है। किन्तु, मैं प्रयोगवाद का अगुआ नही, पिछलगुआ कवि हूँ, क्योकि 'नील कुसुम' की कविताओ की रचना के बहुत पहले ही 'तारसप्तक' की गूंज देश मे खूब छा चुकी थी।

हिन्दी-कविता मे जो नवीनतम क्षितिज झलकने लगा है, उसे लेकर सम्भ्रान्त आलोचको मे काफी मतभेद है। किन्तु, मैं बडे उत्साह मे हूँ। छठी सदी मे भामह ने यह प्रश्न उठाया था कि कविता की आत्मा क्या है? कविता की आत्मा उन्होंने

अलकार को माना। किन्तु, आगे चलकर वामन को यह बात ठीक नही जँची। कारण, अलकार का रमणी के लिए जितना महत्त्व है, कविता के लिए उससे अधिक नही हो सकता। अतएव, वामन भामह की अपेक्षा कुछ अधिक गहराई मे गये और उन्होने कहा, कविता की आत्मा रीति हो सकती है। रीति क्या है? कवि बराबर अपने लिए एक ऐसी राह बनाता है, जो पहले नही थी ; यह रीति है। ससार मे मनुष्य रोज पैदा होते है, किन्तु, दो मनुष्य एक समान नही होते ; यह रीति है। प्रत्येक कवि प्रत्येक दूसरे कवि से भिन्न होता है ; यह रीति का प्रमाण है। रीति बडी ही गहराई का अनुसन्धान थी, किन्तु, खोज वही तक नही रुकी। भामह से वामन तक जो प्रगति हुई थी, उसका लाभ आनन्दवर्धन ने उठाया और उन्होने घोषणा की कि कविता की आत्मा ध्वनि है। अर्थात् कविता वह नही है, जो कहा जाता है, बल्कि वह जिसकी ओर सकेत किया जाता है। मेरा विचार है, सारे ससार की आलोचनाओ को निचोड डाले, तब भी उससे अधिक गहरी बात का पता नही चलेगा, जिसका ध्वनिकार को चला था।

कुछ वैसा ही प्रश्न हमारे समय मे भी उठने लगा है, यद्यपि, इस बार यह समस्या आलोचको के आगे नही, कवियो के सामने है। नये कवि, व्याजान्तर से, इसी बात का प्रयोग कर रहे है कि कितने ऐसे उपकरण है, जिन्हे छोडकर भी कविता कविता रह जायगी। सिद्ध है कि कविता बिना छन्द के भी हो सकती है ; इसलिए, छन्द त्यक्त हो रहे है। सिद्ध है कि कविता केवल कोमल शब्दो के जोड मे नही है ; इसलिए, कोमलता की परम्परा टूट रही है। सिद्ध है कि कविता के विषय निर्धारित नही किये जा सकते, इसलिए, अपरिचित, अप्रत्याशित और अनपेक्षित विषय कविता मे भरते जा रहे है। रवि बाबू ने कहा था कि यदि किसी को स्वस्थ, सुविकच और सुनवीन पुष्पो के बदले घुन लगे हुए, अन्धे-काने फूल ही पसन्द आते हो, तो उनसे प्रेम करने का उसे पूरा अधिकार है। इस उक्ति मे जो व्यग्य था, वह तो कपूर के समान उड गया, जो बाकी बचा, उसका उपयोग आज कवि के जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप मे किया जा रहा है।

हिन्दी मे जो कुछ हो रहा है, उसे इलियट आदि अगरेजी कवियो का अन्धानुकरण नही कहना चाहिए। अनुकरण का काम दो-चार या दस आदमी कर सकते है। पूरी-की-पूरी पीढी अनुकरण के रोग से ग्रस्त हो, ऐसा मानने का कोई ठोस आधार नही है। मेरा अनुमान है कि जिन अवस्थाओ ने इग्लैण्ड मे नये कवियो को उत्पन्न किया, उनसे मिलती-जुलती अवस्थाएँ अपने यहाँ के बुद्धिजीवियो को भी अनुभूत होने लगी है। इसलिए, उनमे और यूरोपीय कवियो मे थोडा बहुत साम्य दिखलाई दे रहा है। कोलाहल तो बडे जोर का है और लगता भी ऐसा ही है कि लडके अपने पुरखो के कलात्मक असबाबो को तोड़-फोड़ कर ही दम लेगे। किन्तु, यह नवागम का भी रोर हो सकता है। सम्भव है, बाढ मे बहकर बहुत-से

ऐसे लोग भी आ गये हो, जो कवि नही हैं। किन्तु भविष्य पर जिनके पजो की छाप पडनेवाली है, वे कवि-पुगव भी इसी झुण्ड मे छिपे हुए है। नयी आलोचना का धर्म है कि वह उन्हे भीड़ से ऊपर लाये, उनके योग्य आसन और पीढे की व्यवस्था करे। जहाँ भविष्य के ये पुरोधा बैठेंगे, वही किसी कोने मे 'नील कुसुम' भी पायन्दाज़ का काम देगा। यह नकली विनय नही, हृदय की सच्ची आवाज है। हिन्दी कविता का आकाश बदल रहा है। जो नया क्षितिज सामने चमक रहा है, उसी की ओर खडा होकर मैं स्वागत मे 'नील कुसुम' बिखेरता हूँ। ये आशीर्वाद के अक्षत नही, सचमुच ही, जवानी की पूजा के फूल है।

नयी दिल्ली
दिसम्बर, १९५४ ई०

रामधारी सिह दिनकर

समर्पण

हिन्दी-कवियो की उस नयी पीढी को,
जो उपेक्षा और अन्धकार को चीरकर
वाहर आ रही है।

झाँकी उस नयी परिधि की जो है दीख रही कुछ थोडी-सी,
क्षितिजों के पास पड़ी पतली चमचम सोने की डोरी-सी।
छिलके उठते जा रहे, नया अंकुर मुख दिखलाने को है,
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा, आकाश नया आने को है।

—दिनकर

कविता-सूची

नील कुसुम

वर्षा का मौसम गया, बाढ़ भी साथ गयी,
जो बचा शेष, वह स्वच्छ नीर का सोता है।
अब चाँद और तारे इसमें निज को देखें,
आसिन का जल बिलकुल दर्पण-सा होता है।

नील कुसुम

"है यहाँ तिमिर, आगे भी ऐसा ही तम है,
तुम नील कुसुम के लिए कहाँ तक जाओगे ?
जो गया, आज तक नही कभी वह लौट सका,
नादान मर्द ! क्यो अपनी जान गँवाओगे ?

प्रेमिका ! अरे, उन शोख़ बुतो का क्या कहना !
वे तो यो ही उन्माद जगाया करती है,
पुतली से लेतीं वाँध प्राण की डोर प्रथम,
पीछे चुम्बन पर कैद लगाया करती है।

इनमें से किसने कहा, चाँद से कम लूँगी ?
पर, चाँद तोड कर कौन मही पर लाया है ?
किसके मन की कल्पना गोद मे बैठ सकी ?
किसका जहाज फिर देश लौट कर आया है ?"

ओ नीतिकार ! तुम झूठ नही कहते होगे,
बेकार मगर, पगलो को ज्ञान सिखाना है,
मरने का होगा ख़ौफ, मौत की छाती में
जिसको अपनी जिन्दगी ढूँढ़ने जाना है ?

औ' सुना कहाँ तुमने कि जिन्दगी कहते हैं,
सपनों ने देखा जिसे, उसे पा जाने को?
इच्छाओ की मूर्तियाँ घूमती जो मन में,
उनको उतार मिट्टी पर गले लगाने को?

जिन्दगी, आह! वह एक झलक रंगीनी की,
नंगी उँगली जिसको न कभी छू पाती है,
हम जभी हाँफते हुए चोटियों पर चढ़ते,
वह खोल पंख चोटियाँ छोड उड़ जाती है।

रंगीनी की वह एक झलक, जिसके पीछे
है मची हुई आपा-आपी मस्तानों में,
वह एक दीप जिसके पीछे है डूब रही
दीवानों की किश्तियाँ कठिन तूफ़ानों में।

डूबती हुई किश्तियाँ! और यह किलकारी!
ओ नीतिकार! क्या मौत इसी को कहते है?
है यही ख़ौफ, जिससे डरकर जीनेवाले
पानी से अपना पाँव समेटे रहते है?

जिन्दगी गोद में उठा-उठा हलराती है
आशाओं की भीषिका झेलनेवालों को;
औ' बड़े शौक से मौत पिलाती है जीवन
अपनी छाती से लिपट खेलनेवालों को।

तुम लाशें गिनते रहे खोजनेवालों की,
लेकिन, उनकी असलियत नही पहचान सके;
मुरदों मे केवल यही जिन्दगीवाले थे
जो फूल उतारे बिना लौट कर आ न सके।

हो जहाँ कही भी नील कुसुम की फुलवारी,
मैं एक फूल तो किसी तरह ले जाऊँगा,
जूडे में जब तक भेंट नही यह बाँध सकूँ,
किस तरह प्राण की मणि को गले लगाऊँगा ?

१९५० ई०]

चाँद और कवि

रात यों कहने लगा मुझ से गगन का चाँद,
"आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है!
उलझनें अपनी बनाकर आप ही फँसता,
और फिर बेचैन हो जगता न सोता है।

जानता है तू कि मैं कितना पुराना हूँ?
मैं चुका हूँ देख मनु को जनमते-मरते,
और लाखों बार तुझ-से पागलो को भी
चाँदनी में बैठ स्वप्नों पर सही करते।

आदमी का स्वप्न? है वह बुलबुला जल का,
आज बनता और कल फिर फूट जाता है;
किन्तु, तो भी धन्य, ठहरा आदमी ही तो!
बुलबुलों से खेलता, कविता बनाता है।"

मै न बोला, किन्तु, मेरी रागिनी बोली,
"चाँद! फिर से देख मुझको जानता है तू?
स्वप्न मेरे बुलबुले है? है यही पानी?
आग को भी क्या नही पहचानता है तू?

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ;
और उस पर नीव रखती हूँ नये घर की,
इस तरह, दीवार फौलादी उठाती हूँ।

मनु नही, मनु-पुत्र है यह सामने, जिसकी
कल्पना की जीभ में भी धार होती है;
बाण ही होते विचारों के नही केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

स्वर्ग के सम्राट को जाकर ख़बर कर दे,
"रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे है ये;
रोकिये, जैसे बने, इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढते आ रहे है ये।"

१९४६ ई०]

दर्पण

जा रही देवता से मिलने ?
तो इतनी कृपा किये जाओ।
अपनी फूलों की डाली में
दर्पण यह एक लिये जाओ।

आरती, फूल, फल से प्रसन्न
जैसे हों, पहले कर लेना;
जब हाल धरित्री का पूछे,
सम्मुख दर्पण यह धर देना।

बिम्बित है इसमें पुरुष पुरातन
के मानस का घोर भँवर;
है नाच रही पृथ्वी इसमें,
है नाच रहा इसमें अम्बर।

यह स्वयं दिखायेगा उनको
छाया मिट्टी की चाहों की,
अम्बर की घोर विकलता की,
धरती के आकुल दाहों की।

ढहती मीनारों की छाया,
गिरती दीवारों की छाया,
बेमौत हवा के झोंके में
मरती झंकारों की छाया।

छाया छाया-ब्रह्माणी की
जो गीतों का शव ढोती है,
भुज में वीणा की लाश लिये
आतप से बचकर सोती है।

झाँकी उस भीत पवन की जो
तूफ़ानों से है डरा हुआ;
उस जीर्ण खमण्डल की जिसमें
आतक-रोर है भरा हुआ।

हिलती वसुन्धरा की झाँकी,
बुझती परम्परा की झाँकी;
अपने में सिमटी हुई, पलित
विद्या अनुर्वरा की झाँकी।

झाँकी उस नयी परिधि की जो
है दीख रही कुछ थोड़ी-सी;
क्षितिजों के पास पड़ी पतली,
चमचम सोने की डोरी-सी।

छिलके उठते जा रहे, नया
अकुर मुख दिखलाने को है;
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा,
आकाश नया आने को है।

१६४६ ई०]

व्याल-विजय

झूमे जहर चरण के नीचे, मैं उमंग में गाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(१)

यह बाँसुरी बजी माया के मुकुलित आकुंचन में,
यह बाँसुरी बजी अविनाशी के संवेश गहन में;
अस्तित्वों के अनस्तित्व में, महाशान्ति के तल में,
यह बाँसुरी बजी शून्यासन की समाधि निश्चल में।
कम्पहीन तेरे समुद्र में जीवन-लहर उठाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(२)

अक्षय-वट पर बजी बाँसुरी, गगन मगन लहराया,
दल पर विधि को लिये जलधि में नाभि-कमल उग आया।
जन्मी नव चेतना, सिहरने लगे तत्त्व चलदल-से,
स्वर का ले अवलम्ब भूमि निकली प्लावन के जल से।
अपने आर्द्र वसन की वसुधा को फिर याद दिलाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(३)

फूली सृष्टि नाद-बन्धन पर, अब तक फूल रही है,
वंसी के स्वर के धागे में, धरती झूल रही है।
आदि छोर पर जो स्वर फूंका, पहुँचा अन्त तलक है,
तार-तार में गूंज गीत की, कण-कण वीच झलक है।
आलापों पर उठा जगत को भर-भर पेग झुलाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(४)

जगमग ओस-विन्दु गुंथ जाते साँसों के तारों मे,
गीत वदल जाते अनजाने मोती के हारों में।
जव-जव उठता नाद, मेघ मण्डलाकार घिरते है,
आस-पास बंसी के गीले इन्द्रधनुष तिरते है।
बाँधूं मेघ कहाँ बंसी पर ? सुरधनु कहाँ सजाऊँ ?
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(५)

इस बंसी के मधुर नाद पर माया डोल चुकी है,
पटावरण कर दूर भेद अन्तर का खोल चुकी है।
झूम चुकी है प्रकृति चाँदनी में मादक गानों पर,
नचा चुका हूँ महानर्तकी को इसकी तानों पर।
विषवर्षी पर अमृतवर्षिणी का जादू दिखलाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं वाँसुरी वजाऊँ।

(६)

उड़े नाद के जो कण ऊपर, वे वन गये सितारे,
जो नीचे रह गये, कही है फूल, कही अंगारे।

भींगे अधर कभी बंसी के शीतल गंगाजल से,
कभी प्राण तक झुलस उठे है इसके हालाहल से।
शीतलता पीकर प्रदाह से कैसे हृदय चुराऊँ?
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(७)

यह बाँसुरी बजी, मधु के सोते फूटे मधुवन में,
यह बाँसुरी बजी, हरियाली दौड़ गयी कानन में।
यह बाँसुरी बजी, प्रत्यागत हुए विहग गगन से,
यह बाँसुरी बजी, सट कर विधु चलने लगा भुवन से।
अमृत-सरोवर मे धो-धो तेरा भी जहर बहाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मै बाँसुरी बजाऊँ।

(८)

यह बाँसुरी बजी पनघट पर कालिन्दी के तट में,
यह बाँसुरी बजी मुरदों के आसन पर मरघट में।
बजी निशा के बीच आलुलायित केशों के तम में,
बजी सूर्य के साथ यही बाँसुरी रक्त-कर्दम में।
कालियदह में मिले हुए विष को पीयूष बनाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(९)

फूंक-फूंक विष-लपट, उगल जितना हो जहर हृदय में,
यह बंसी निर्गरल, बजेगी सदा शान्ति की लय मे।
पहचाने किस तरह भला तू निज विष का मतवाला?
मै हूँ साँपो की पीठो पर कुसुम लादनेवाला।
विषदह से चल निकल, फूल से तेरा अंग सजाऊँ।
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(१०)

ओ शंका के व्याल ! देख मत मेरे श्याम वदन को,
चक्षु:श्रवा ! श्रवण कर बंसी के भीतर के स्वन को।
जिसने दिया तुझे विष, उसने मुझको गान दिया है,
ईर्ष्या तुझे, उसी ने मुझको भी अभिमान दिया है।
इस आशिप के लिए भाग्य पर क्यों न अधिक इतराऊँ ?
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मै बाँसुरी बजाऊँ।

(११)

विषधारी ! मत डोल कि मेरा आसन बहुत कड़ा है,
कृष्ण आज लघुता में भी साँपों से बहुत बड़ा है।
आया हूँ बाँसुरी-बीच उद्धार लिये जनगण का,
फण पर तेरे खड़ा हुआ हूँ भार लिये त्रिभुवन का।
बढ़ा, बढ़ा नासिका, रन्ध्र मे मुक्ति-सूत्र पहनाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

१९४९ ई०]

स्वप्न और सत्य

तबीयत चाहती है, बात कुछ तुमको सुनाऊँ,
मगर, तुम कौन हो जो पंक्ति मेरी पढ़ रहे हो?

कला के पारखी हो? चाँदनी के चाहनेवाले?
हवा की साँस में जो दर्द है उसको समझते हो?
बितायी है कभी क्या पूर्णिमा की रात खेतों में
खड़ी हरियालियों को देखते, बोले बिना कुछ भी?

पहाड़ों को कभी क्या देखकर यह भाव जागा है,
तुम्हारी और उनकी रूह आपस मे सहेली है?

सितारों की सभा मे बैठते हो? घूमते हो क्या
उषा के जावकों मे और सन्ध्या के जुही-वन में?
जवानी की लटों को देख मन करवट बदलता है?
भरे-उभरे बदन से क्या घनो की याद आती है?

रखा है याद सौ में एक कोई गीत वह चुनकर
कि जिस में रूपसी कोई सरोवर में नहाती हो,
पलो के दो दलो पर, बाहु-मूलों पर, कपोलों पर

झलकते हों फुहारे शुभ्र जल के मोतियों-जैसे,
कमल-दल पर सुबह में जिस तरह शबनम चमकती है?

बुलाते है इशारों से कभी वे स्वप्न तुमको भी
हमारे हाथ से दो इंच जो आगे बने रहते?
न छू सकते जिन्हे हम औ' न जिनको छोड़ ही सकते,
यही दो इंच की दूरी हजारों कोस बन जाती।
मगर, बेचैनियो से रोशनी कैसी उमड़ती है?

तुम्हें भी रात के सुनसान मे आकाश पर दिखते
किसी की माँग के मोती, किसी के हाथ का दर्पण?
किसी के मुक्त कुन्तल-जाल लहराते हुए घन-से
कि जिनमें से चमेली के हजारो फूल झरते हैं?

अहा! क्या बात? ये आकाशवाली सूरतें भोली,
कि जिनके नाम से आहट नयी महसूस होती है,
हृदय मे सुगबुगा उठती जुही के फूल-सी कविता,
लहू मे रेंगने लगते हजारों साँप सोने के।

सुकेशी, उर्वशी, रम्भा, मृणाली, मेनका, शीला,
न किसके नाम में वैकुण्ठ सिमटा झिलमिलाता है?
न किसके नाम से ही प्राण जगकर बैठ जाते है,
समझकर, यह किसी संगीत की पहली कड़ी होगी?

ज़रा लो नाम, फिर दोनों दृगों को मूँदकर सूँघो,
तुम्हारे घ्राण में सम्पूर्ण दिव की गन्ध आयेगी।

प्रणय की चिर-किशोरी मूर्तियों को काम ही क्या है?
सदा किलकारियाँ भरना, मचलते, खेलते रहना
कभी मन्दार के नीचे, कभी मन्दाकिनी-तट पर।

न इनकी आयु बढ़ती है, न इनका रूप घटता है,
बुढ़ापा क्या? जवानी ही कभी ढीली नही होती।

किसी की कुक्षि की कोपल? नहीं, ये कल्पनाएँ हैं।
निकलती है जवानी की उमंगो से परी उस दिन
मनुज का मन भरे मधुमास में जिस रोज होता है।

टँगे है कल्पना की खूँटियों पर चित्र वे, जिनमे
अछूते रंग में हिलडुल मनुज की प्यास जलती है।

कुहासे में, धुएँ में रंग के तूफ़ान पर चढ़कर
हवा पर दौड़ना भी खूब है आगे अगर कोई
परी संकेत करती हो कि मन का देवता उगकर
बुलाता हो तिमिर में, फिर बुलाकर डूब जाता हो।

बडा आनन्द है रंगीनियों के बीच चलने में।
बुरा क्या है, कभी यदि मेनका के साथ बादल पर
टहलते-घूमते तुम बेखबर नीचे फिसल जाओ?
अरे, ये मेघ है, सड़कें नही कंक्रीट-पत्थर की,
गिरो भी तो नहीं तन मे तनिक भी चोट लगती है।

बुरा क्या है, किसी दिन घूमते-फिरते भटक जाओ,
गली सूझे नही कोई सितारों से निकलने की?
मजे में रात भर घूमो कभी दाये, कभी बाये,
उमड़ती बाढ़ मे ज्यों गाँव की डोंगी निकलती है
घरो के पास से होकर, बचाकर पेड़-पौधो को;
कि जैसे पर्वतो की गोद मे नदियाँ बहा करती;
कि जैसे टापुओ के बीच से जलयान चलते है,
कि जैसे रेगते हैं साँप नीचे फूल के वन में,
कि जैसे नाव 'वेनिस' मे गृहों के बीच फिरती है।

सितारों की जमीं पर ओस की अच्छी नमी होगी,
धुमैली गन्ध बादल की भरेगी ताजगी मन मे।
मजे में रात भर घूमो, मगर, जब भोर होता हो,
क्षितिज के पास कंचन के सरोवर में उतर जाओ,
मिटा लो क्लान्ति, रँग लो प्राण को सौरभ भरे जल से,
उषा को बाँधकर भुज में उतरते-तैरते जाओ,
क्षितिज के पास से पृथ्वी नही दो हाथ भर भी है।

अहा! पृथ्वी!
धुओं का जाल ऊपर रह गया उन भावनाओ-सा
उमडती है घटा-सी जो, नही पर, हाथ मे आती,
तुम्हारे पाँव के नीचे हुई आवाज कुछ ठक-सी?
लगा ऐसा कि जैसे नीद से तुम जाग बैठे हो?
हुआ अनुमान कुछ ऐसा कि जैसे आँख के ऊपर
हरी ऐनक पड़ी थी जो कही वह गिर गयी खुलकर?
अभी तो भोर की भी धूप आँखों में कड़कती है।
यही है जिन्दगी जिसकी गगन में कामना फैली,
मगर, जो खुद खड़ी चट्टान से लोहे बजाती है।
छिटक चिनगारियाँ उड़ती, वही इसके सितारे है,
धुमैली गन्ध जो ऊपर, यहाँ खुशबू पसीने की।

गगन मे घूमनेवालो! जिसे तुम खोजते-फिरते,
नही वह पूर्णता है शून्य का कीटाणु बनने में।
बढ़ाओ कल्पना का जाल, तब भी व्योम बाकी है,
लगाओ तर्क के सोपान, तब भी प्रश्न रहते हैं।
मृषा ऊहा, वृथा सन्धान, मन का स्वेद यह झूठा,
अमरता खोजते हो तुम, मगर मरते चले जाते।

इधर तुम खीचते अपनी लकीरे वायुमण्डल मे,
उधर आकर निरन्तर शून्य उनको एक कर जाता।
इसीसे तो समझता हूँ कि वे अच्छे रहे हमसे
नही जिनकी लकीरे वायुमण्डल पर, मही पर है।

भावी पीढ़ी से

हम तुम में साकार नही तो छिपे हुए है।
तुम भी लेकर नाव हमारे उष्ण रुधिर में
घूम रहे इच्छाओ की दुनिया टटोलते,
ले जाने को उसे, तत्त्व जो अविनश्वर है,
जा सकता है जो कुम्हलाये बिना वहाँ तक
जहाँ पहुँच तट छोड़ तुम्हें ऊपर आना है।

ये कुछ भीगे कमल और ये गीली कलियाँ?
ऐसी ही थी, हम सब की ईजाद नही हैं।
जो हम को दे गये, उन्होने भी पाया था,
अपने पूर्व-पुरुष के हाथों से ऐसा ही।
जीत वही जो मनु के चरणों में लोटी थी;
हार वही जिसके नीचे वह काँप उठा था।
रहे धूल मे पडा कि गगा में नहलाओ,
आदम का बेटा आदम का ही बेटा है।

नयी बात क्या कहें? नया हमने क्या सीखा?
उलट-पुलट कर शब्द खेल जितने दिखलावें;

जिन्होंने पर्वतों को काटकर मैदान कर डाला,
नदी सकेत पर जिनके सिमटकर गति बदलती है।
सुबह से शाम तक खटकर पुरुष जो लौटते घर को,
अभी भी वीरता-साहस लिये, गौरव भरे मन में,
प्रिया से भी नही कहते कि मेरी देह दुखती है।

बड़ी कविता कि जो इस भूमि को सुन्दर बनाती है,
बड़ा वह ज्ञान जिससे व्यर्थ की चिन्ता नही होती।
बड़ा वह आदमी जो ज़िन्दगी भर काम करता है;
बड़ी वह रूह जो रोये बिना तन से निकलती है।

१९५२ ई०]

जिन्होंने पर्वतों को काटकर मैदान कर डाला,
नदी संकेत पर जिनके सिमटकर गति बदलती है।
सुबह से शाम तक खटकर पुरुष जो लौटते घर को,
अभी भी वीरता-साहस लिये, गौरव भरे मन में,
प्रिया से भी नही कहते कि मेरी देह दुखती है।

बड़ी कविता कि जो इस भूमि को सुन्दर बनाती है,
बडा वह ज्ञान जिससे व्यर्थ की चिन्ता नही होती।
बड़ा वह आदमी जो जिन्दगी भर काम करता है;
बडी वह रूह जो रोये बिना तन से निकलती है।

१९५२ ई०]

भावी पीढ़ी से

हम तुम में साकार नही तो छिपे हुए है।
तुम भी लेकर नाव हमारे उष्ण रुधिर में
घूम रहे इच्छाओं की दुनिया टटोलते,
ले जाने को उसे, तत्त्व जो अविनश्वर है,
जा सकता है जो कुम्हलाये बिना वहाँ तक
जहाँ पहुँच तट छोड़ तुम्हें ऊपर आना है।

ये कुछ भीगे कमल और ये गीली कलियाँ?
ऐसी ही थी, हम सब की ईजाद नही हैं।
जो हम को दे गये, उन्होंने भी पाया था,
अपने पूर्व-पुरुष के हाथों से ऐसा ही।
जीत वही जो मनु के चरणों में लोटी थी;
हार वही जिसके नीचे वह काँप उठा था।
रहे धूल में पड़ा कि गंगा में नहलाओ,
आदम का बेटा आदम का ही बेटा है।

नयी बात क्या कहे? नया हमने क्या सीखा?
उलट-पुलट कर शब्द खेल जितने दिखलावें,

किन्तु. बात है यही कि जल ठण्डा होता है,
और आग पर चढ़ा उसे जितना खौलाओ,
किन्तु, आग उस पानी से भी बुझ जाती है।

जिज्ञासा का धुआँ उठा जो मनु के सिर से,
सब के माथे से वह उठता ही आया है,
घटी-बढ़ी, पर, नही तनिक नीलिमा गगन की,
और न बरसा समाधान कोई अम्बर से।

श्रम है केवल सार, काम करना अच्छा है,
चिन्ता है दुख-भार, सोचना पागलपन है।
पियो सोम या चाय, नाम में जो अन्तर हो,
मगर, स्वाद का हाल वही खट्टा-मीठा है।

१९५१ ई०]

नीरव प्रकाश

दूँ तुम को जीभ उधार ? सूर्य ! क्या बोलोगे ?
भाषा जिनकी है बनी, भाव वे जूठे हैं।
जो भेद अछूते है, उनको कहना चाहो,
तो वाणी के साधन समस्त ये झूठे हैं।

आँखे सुन सकती नहीं मूर्त्त जिन गीतों को,
शब्दों मे उनको ढाल कान पढ़ पायेंगे ?
गूँगे की लिपियों में न अर्थ जो आ पाते,
कवि की जिह्वा पर ही कैसे चढ पायेंगे ?

ये शब्द मद्य-रस-जीवी है, जितनी पीते
संकेत-सुरा उतना ही खेल दिखाते हैं।
पर, जहाँ वारुणी का मद नही ठहर पाता,
उस गहराई पर पहुँच मूक रह जाते है।

संकेतों से आगे वाणी की राह नही,
कुछ लाभ नही किरणों को मुखर बनाने से।
रव की झकारों से न भेद खुल पायेगा,
जो खुला नही नीरव प्रकाश फैलाने से।

१९५३ ई०]

सबसे बड़ी आवाज़

शून्य का जो उत्स, उसके पास है वह।
काल की निस्सीमता की साँस है वह।
है पची हर चीज के आकार में,
फूटती लेकिन नही झंकार में,
मूक है, प्रच्छन्न है सबसे बड़ी आवाज।

सिन्धु गर्जन कर रहा है;
ये नहीं मर जायँ अम्बर में बिखर कर,
अमरता के लोभ से हर एक स्वर को
भूमि की श्रुति में युगों से भर रहा है।

भूमि, लेकिन, कब तलक ठहरी रहेगी?
अमरता की प्यास में जलती हुई
कान में कब तक जुगाये नाद की लहरी रहेगी?

सिन्धु को जाना जहाँ है,
भूमि को अपना विलय पाना वहाँ है।
बोलनेवाली तरंगे मौन होंगी,
तब यहाँ आवाज उठती कौन होगी?

विश्व के ये नाद टकराते जहाँ पर,
अन्त में विश्राम है पाते जहाँ पर;
उस सतह की मूकता के कुज-वन में
एक छोटी-सी खगी का रूप धर कर
है छिपी बैठी हुई सबसे बड़ी आवाज।

बन्धु मेरे सिन्धु, यों क्या चीख़ते हो?
तुम सुयश के भिक्षु मुझको दीखते हो।
मोह मे भूले हुए प्लुत में पुकारो,
या कि उससे भी अधिक निज कण्ठ फाड़ो।

यह जगत इस छोर से उस छोर तक
क्या कभी गर्जन तुम्हारा सुन सकेगा?
जिस तरह तुम धुन रहे मस्तक यहाँ पर,
उस तरह संसार क्या सिर धुन सकेगा?

मूक हो जाओ अगर बल चाहते हो।

रव नही रवहीन की झंकार है वह,
मूकता के साथ एकाकार है वह,
मूक है, प्रच्छन्न है सबसे बडी आवाज़।

१९५२ ई०]

पावस-गीत

अम्बर के गृह गान रे, घन-पाहुन आये।

इन्द्रधनुष मेचक - रुचि - हारी,
पीत वर्ण दामिनि-द्युति न्यारी,
प्रिय की छवि पहचान रे, नीलम घन छाये।

वृष्टि-विकल घन का गुरु गर्जन,
बूंद - बूंद में स्वप्न - विसर्जन,
वारिद सुकवि समान रे बरसे कल पाये।

तृण, तरु, लता, कुसुम पर सोयी,
बजने लगी सजल सुधि कोई,
सुन-सुन आकुल प्राण रे, लोचन भर आये।

१९४७ ई०]

चन्द्राह्वान

जागो हे अविनाशी !
जागो किरणपुरुष ! कुमुदासन ! विधु-मण्डल के वासी !
जागो हे अविनाशी !

रत्न-जड़ित-पथ-चारी, जागो,
उडु-वन-वीथि-विहारी, जागो,
जागो रसिक विराग-लोक के, मधुवन के संन्यासी !
जागो हे अविनाशी !

जागो शिल्पि अजर अम्बर के !
गायक महाकाल के घर के !
दिव के अमृतकण्ठ कवि, जागो, स्निग्ध-प्रकाश-प्रकाशी।
जागो हे अविनाशी !

विभा-सलिल का मीन करो हे !
निज में मुझको लीन करो हे !
विधु-मण्डल में आज डूब जाने का मैं अभिलाषी !
जागो हे अविनाशी !

१९४६ ई०]

ये गान बहुत रोये

तुम बसे नहीं इनमें आकर,
ये गान बहुत रोये।

बिजली बन घन में रोज हँसा करते हो,
फूलों में बन कर गन्ध बसा करते हो,
नीलिमा नहीं सारा तन ढँक पाती है,
तारा-पथ में पग ज्योति झलक जाती है।
हर तरफ़ चमकता यह जो रूप तुम्हारा,
रह-रह उठता जगमगा जगत जो सारा,
इनको समेट मन में लाकर
ये गान बहुत रोये।

जिस पथ पर से रथ कभी निकल जाता है,
कहते हैं, उस पर दीपक बल जाता है।
मैं देख रहा अपनी ऊँचाई पर से,
तुम किसी रोज तो गुजरे नहीं इधर से।

अँधियाले में स्वर वृथा टेरते फिरते,
कोने - कोने में तुम्हें हेरते फिरते।
पर, कहीं नही तुमको पाकर
ये गान बहुत रोये।

कब तक बरसेगी ज्योति बार कर मुझको?
निकलेगा रथ किस रोज पार कर मुझको?
किस रोज लिये प्रज्वलित बाण आओगे,
खींचते हृदय पर रेख निकल जाओगे?
किस रोज तुम्हारी आग शीश पर लूँगा,
बाणों के आगे प्राण खोल धर दूँगा?
यह सोच विरह में अकुला कर
ये गान बहुत रोये।

१९५३ ई०]

गायक

ढलकते गीत में मोती,
चमकती आँख में शबनम।

तुम्हारी बाँसुरी की तान में
छिप रो रहा कोई।
गुलाबी आँख अपनी
आँसुओं से धो रहा कोई।
तुम्हारे गीत में तारे
झपकते - झिलमिलाते है,
कमल, मानो, सरोवर में
निकलते, डूब जाते है।

मनाती हो चिता के पास
जैसे चाँदनी मातम।
ढलकते गीत में मोती,
चमकती आँख में शबनम।

नहा कर सात रंगों में
कहीं से वेदना आयी,

उदासी या किसी ग़म की
उषा के लोक में छायी।
कसकती वेदना ऐसे कि
जैसे प्राण हिलते हों,
किरण-सी फूटती, मानो,
तिमिर में फूल खिलते हों।

अँधेरी रात में ज्यों बज
रही हो ज्योति की सरगम।
ढलकते गीत में मोती,
चमकती आँख में शबनम।

१९४७ ई०]

नर्त्तकी

तुम्हें भी शूल चुभते हैं ?

बरसते है तुम्हारे अग पर भी बाण आँखों के
असूया मे बुझे, विद्वेष के तीखे जहरवाले ?
उन्ही के सामने हो नाचती जिनकी निगाहों में
नही तुम और कुछ, केवल सुयश की भिक्षुणी भर हो ?

सुधा से तृप्त कर सब को स्वयं जब लौटती घर को,
तुम्हारे भी हृदय के कूप से आवाज उठती है ?
"लगा लायी नया फिर एक धब्बा आज भी तन में,
मरण के हाथ फिर थोड़ी अमरता वेच आयी है।"

हृदय का देवता कहता, न बाहर धूप में घूमो।
नगर के लोग कहते है, प्रशंसा की भिखारिन है।
मगर, तब भी नही तुम क्यों हृदय के गेह में रुकती ?
अतल गहराइयो को छोड क्यों बाहर निकलती हो,
जहाँ ईर्ष्या, असूया, द्वेष सब भाले लिये फिरते,
जहाँ पर फूल की सारी परख रंगीनियो तक है ?
न कोई मूल तक जाता, न कोई गन्ध लेता है।

सतह के फेन के गाहक; कलाएँ मौज हैं इनकी।
कभी जब काम से थक कर महल से ये निकलते है,
हमारी ओर भी कुछ घूमते-फिरते चले आते,
नशीली कामनाओं के तिमिर में खोजते शीतल,
फुहारें चाँदनी की और झीना जाल शबनम का।

इन्हे है याद इतना ही कि जब सागर उबलता है
अतल को छोड़ कर आती भुवन में वारुणी केवल।
नही यह जानते है, कल्पनाएँ जब मथी जाती,
निकलती है जहर की आग भी, पीयूष का जल भी।

हमारी वारुणी मे स्नान करने को बहुत व्याकुल,
वहुत व्याकुल हमारी उर्वशी का रूप पीने को।
नही पर, भूल कर भी खोलते पीयूष के घट को,
जहर को देखकर तो दूर से ही भाग जाते है।

कला आनन्द की स्रोतस्विनी, इस स्रोत के पीछे
बहुत-से फूल होगे, दूब होगी, चाँदनी होगी।
बिचारे सोचते है, जो हमें आनन्द देती है,
भला क्यों भीगती होगी स्वयं वह स्वेद के जल से?
यती-सी काटती होगी कभी क्यों रात वह जग कर
अगोचर की विभा को बाँध कर गोचर बनाने में?

अगमता से उलझने की उसे क्या बेबसी जिसकी
प्रभा कटि में, नयन में, और ग्रीवा में निवसती है?
रिझाने की अदाओ में बड़ी क्या बात है ऐसी,
जिसे हम सिद्धि की लौ, योग की कोमल विभा समझें?
तपस्या-साधना की नाचने में क्या जरूरत है?

जलो जितना, नहीं, पर, योगियों का मान पाओगी।
तपो, लेकिन, नहीं कोई कहेगा तापसी तुम को।
ज़हर पीकर अमृत से विश्व का तन सींचती जाओ,
नहीं संसार, पर, इसको तुम्हारा दान मानेगा।
सभी को तृप्ति दो, पर, कौन इतनी बात सोचेगा,
कि तुम सब को खिला करके बिना आहार सोती हो?

कला की सेविके! यह साधना ही है अभागों की,
न माया ही जिन्हें मिलती, न जिनको राम मिलते हैं।
कुसुम को देख कर हम सोचते, सौरभ कहाँ इसका?
अगर सौरभ मिला तो प्रश्न यह हैरान करता है,
जहाँ से गन्ध यह उठती, कहाँ पर वह कुसुम होगा?

न तो हम गन्ध से मिल कर पवन में वास कर पाते,
न फूलों से लिपट कर भूमि पर आराम करते है।
न मिलता रूप वह निर्देहता की ज्योति हो जिसमें,
न मिलता स्वप्न वह जो देह धर कर पास आ जाये।
बनाना चाहते जो सेतु वह बन ही नहीं पाता,
इसी संघर्ष में जीवन-समर हम हार जाते है।

लगा जब बाँटने धाता सुखों का भोग जीवों को,
रचे दो सोम उसने, एक नभ में, दूसरा जल में।
चतुर थे लोग जो वे तो गगन के चाँद पर दौड़े,
मगर, हम बिक गये बेमोल उसकी एक छाया पर,
कि यह छाया गगन के चाँद से बढ़कर मनोहर थी।

तभी से बिम्ब के पीछे हमारी दौड़ जारी है।
जगत के रूप सारे पाँव के पीछे रहे जाते।

निकलते जा रहे उस ओर को हम तीर की लय से
जहाँ आकाश से पृथ्वी मिली मालूम होती है।

हमारा व्यय ? हवा के खेत में कुछ स्वप्न बो देना।
हमारी आय ? अम्बर में हजारों फूल खिलते है।

बहुत है चाहते, रक्खे चरण चट्टान पर लेकिन,
शिलाएँ भी हमारी बर्फ का निर्माण बन जातीं,
पदों की उष्णता का स्पर्श पाते ही पिघलती हैं।

न जाने आस की नौका कहाँ, किस द्वीप में छोड़ी ?
खड़े हम कूल पर अब तक उसी की राह तकते है।

असूया देखकर हम को भला क्यो आग होती है।
हमारे पास क्या है ? साधना थोडी, फ़कीरी है।
जिसे भी चाह हो इसकी, मुकुट अपना जला डाले,
उठा ले फूल वह जो स्वच्छ दर्पण में चमकता है।
गले से तोड़ कर फेंके प्रतापी हार सोने का।
निकाले राह कोई डूब कर उसको पकड़ने की
सलिल की आरसी में चन्द्रमा जो झिलमिलाता है।

जहाँ सत्य की पूजा, वही तक धर्म गेही का,
कला में स्वप्न जब भरते, शुरू संन्यास होता है।

१९५३ ई०]

कवि की मृत्यु

जब गीतकार मर गया, चाँद रोने आया,
चाँदनी मचलने लगी कफ़न बन जाने को।
मलयानिल ने शव को कन्धों पर उठा लिया,
वन ने भेजे चन्दन-श्रीखण्ड जलाने को।

सूरज बोला, यह बड़ी रोशनीवाला था,
मैं भी न जिसे भर सका कभी उजियाली से;
रँग दिया आदमी के भीतर की दुनिया को
इस गायक ने अपने गीतों की लाली से।

बोला बूढ़ा आकाश, ध्यान जब यह धरता,
मुझमें यौवन का नया वेग जग जाता था।
इसके चिन्तन में डुबकी एक लगाते ही,
तन कौन कहे, मन भी मेरा रँग जाता था।

देवो ने कहा, बड़ा सुख था इसके मन की
गहराई में डूबने और उतराने में।
माया बोली, मै कई बार थी भूल गयी
अपने को गोपन भेद इसे बतलाने में।

योगी था, बोला सत्य, भागता मैं फिरता,
यह जाल बढाये हुए दौड़ता चलता था।
जब-जब लेता यह पकड़ और हँसने लगता,
धोखा देकर मैं अपना रूप बदलता था।

मर्दों को आयीं याद बाँकपन की बातें,
बोले, जो हो, आदमी बड़ा अलबेला था।
जिसके आगे तूफान अदब से झुकते है,
उसको भी इसने अहंकार से झेला था।

नारियाँ बिलखने लगी बाँसुरी के भीतर
जादू था, कोई अदा बड़ी मतवाली थी,
गर्जन में भी थी नमी, आग से भरे हुए
गीतों में भी कुछ चीज रुलानेवाली थी।

वे बड़ी-बड़ी आँखे आँसू से भरी हुई,
पानी में जैसे कमल डूब उतराता हो।
वह मस्ती में झूमते हुए उसका आना,
मानो, अपना ही तनय झूमता आता हो।

चिन्तन में डूबा हुआ, सरल, भोला-भाला
बालक था, कोई पुरुष दिव्य अवतारी था।
तुम तो कहते हो मर्द, मगर, मन के भीतर
यह कलावन्त हमसे भी बढ़ कर नारी था।

चुपचाप जिन्दगी भर इसने जो जुल्म सहे,
उतना नारी भी कहाँ मौन हो सहती है?
आँखों के आँसू मन के भेद जता जाते,
कुछ सोच-समझ जिह्वा चाहे चुप रहती है।

पर, इसे नहीं रोने का भी अवकाश मिला,
सारा जीवन कट गया आग सुलगाने में।
आखिर, वह भी सो गया ज़िन्दगी ने जिसको,
था लगा रखा सोतों को छेड़ जगाने में।

बेबसी बड़ी उन बेचारों की क्या कहिये!
चुपचाप जिन्हें जीवन भर जलना होता है।
ऊपर-नीचे द्वेषों के कुन्त तने होते,
बचकर उनको बेदाग निकलना होता है।

जाओ, कवि, जाओ, मिला तुम्हें जो कुछ हमसे,
दानी को उसके सिवा नहीं कुछ मिलता है।
चुन-चुन कर हम तोड़ते वही टहनी केवल
जिस पर कोई अपरूप कुसुम आ खिलता है।

विष के प्याले का मोल और क्या हो सकता?
प्रेमी तो केवल मधुर प्रीत ही देता है।
कवि को चाहे संसार भेंट दे जो, लेकिन,
बदले में वह निष्कपट गीत ही देता है।

आवरण गिरा, जगती की सीमा शेष हुई,
अब पहुँच नहीं तुम तक इन हाहाकारों की।
नीचे की महफ़िल उजड़ गयी, ऊपर कल से
कुछ और चमक उट्ठेगी सभा सितारों की।

१९५२ ई०]

नयी आवाज़

कभी की जा चुकीं नीचे यहाँ की वेदनाएँ,
नये स्वर के लिए तू क्या गगन को छानता है?

(१)

बताये भेद क्या तारे? उन्हें कुछ ज्ञात भी हो,
कहे क्या चाँद? उसके पास कोई बात भी हो।
निशानी तो घटा पर है, मगर, किसके चरण की?
यहाँ पर भी नही यह राज कोई जानता है।

(२)

सनातन है, अचल है, स्वर्ग चलता ही नही है;
तृषा की आग में पडकर पिघलता ही नही है।
मजे मालूम ही जिसको नही बेताबियों के,
नयी आवाज़ की दुनिया उसे क्यों मानता है?

(३)

धुओं का देश है नादान! यह छलना बड़ी है,
नयी अनुभूतियों की खान वह नीचे पड़ी है।
मुसीबत से बिंधी जो जिन्दगी, रौशन हुई वह,
किरण को ढूँढ़ता, लेकिन, नही पहचानता है।

(४)

गगन में तो नहीं बाक़ी ज़रा कुछ है अनल में,
नये स्वर का भरा है कोष पर, अब तक अतल में।
कढ़ेगी तोड़कर कारा अभी धारा सुधा की,
शरासन को श्रवण तक तू नहीं क्यों तानता है?

(५)

नया स्वर खोजनेवाले! तलातल तोड़ता जा,
क़दम जिस पर पड़ें तेरे, सतह वह छोड़ता जा;
नयी झंकार की दुनिया ख़तम होती कहाँ पर?
वही कुछ जानता, सीमा नहीं जो मानता है।

(६)

वहाँ क्या है कि फ़व्वारे जहाँ से छूटते हैं?
ज़रा-सी नम हुई मिट्टी कि अंकुर फूटते हैं?
बरसता जो गगन से वह जमा होता मही में,
उतरने को अतल में क्यों नही हठ ठानता है?

(७)

हृदय-जल में सिमट कर डूब, इसकी थाह तो ले,
रसों के ताल में नीचे उतर अवगाह तो ले।
सरोवर छोड़ कर तू बूँद पीने की ख़ुशी में,
गगन के फूल पर शायक वृथा सन्धानता है।

१९५१ ई०]

संकेत

जलद-जाल में कुन्तल तेरे उलझ रहे,
सुरधुन का केयूर, बाँह पर मणिबन्धन;
जहाँ हमारे मस्तक पहुँच नही सकते,
फूलों-से पड़ते है तेरे दिव्य चरण।

रंग-भरी कल्पना हमारी भी क्या है?
छाया, तेरी कनक-चेतना की छाया;
साँसों में भरता सुगन्ध तू ही लेकिन,
जग कहता, मै इसे स्वर्ग से ले आया।

मरकत-से, मणि-से, विद्रुम-से, फूलों-से
नभ में पावन चरण-चिह्न उतराते है,
जिधर-जिधर ले जाता है संकेत हमे,
उधर-उधर हम अपना प्रेम चढ़ाते है।

१९४९ ई०]

जीवन

पत्थरों में भी कहीं कुछ सुगबुगी है?
दूब यह चट्टान पर कैसे उगी है?

ध्वंस पर जैसे मरण की दृष्टि है,
सृजन में त्यों ही लगी यह सृष्टि है।

एक कण भी है सजल आशा जहाँ,
एक अंकुर सिर उठाता है वहाँ।

मृत्यु का तन आग है, अंगार है;
जिन्दगी हरियालियों की धार है।

क्षार मे दो बूँद आँसू डाल कर,
और उसमें बीज कोई पाल कर,

चूम कर मृत को जिलाती ज़िन्दगी।
फूल मरघट में खिलाती ज़िन्दगी।

निर्झरी बन फूटती पाताल से,
कोंपले बन नग्न, रूखी डाल से।

खोज लेती है सुधा पाषाण में,
जिन्दगी रुकती नही चट्टान में।

बाल भर अवकाश होना चाहिए,
कुछ खुला आकाश होना चाहिए,

बीज की फिर शक्ति रुकती है कहाँ?
भाव की अभिव्यक्ति रुकती है कहाँ?

१९५४ ई०]

आनन्दातिरेक

आनन्द का अतिरेक यह।

हो मृत्यु की धारा अगर तो मुक्त बहने दो मुझे;
हो जिन्दगी की छाँह तो निस्पन्द रहने दो मुझे।

कुछ और पाना व्यर्थ है,
अन्यत्र जाना व्यर्थ है।

माँगा बहुत तुम से, नही कुछ और माँगूंगा;
अब इस महामधु-पूर्ण निद्रा से न जागूंगा।

नीद है वह जागरण जब फूल खिलते हों;
चेतना के सिन्धु में निश्चेत प्राणों को;
ऊर्मियों में फूटते-से गान मिलते हों।

मीठा बहुत उल्लास यह, मादक बहुत अविवेक यह,
निस्सीम नभ, सागर अगम आनन्द का अतिरेक यह।

१६५४ ई०]

सेतु-रचना

भूंक रहे जो उन्हें नही उत्तर दो,
तुम कुरूप हो, ऐसी बात नही है।
टूट रहे ये मुझे काट खाने को,
तुम पर तो कोई आघात नही है।

और तेज ये जितना करे नखों को,
अपना ही तो अंग नोच खायेंगे?
हम-तुम बसते जहाँ तुंग चोटी पर,
वहाँ द्वेष के कीट पहुँच पायेंगे?

ओर-छोर तक कैसे छाप सकेगा
तिमिर तुम्हारी छवि काली पाँखों से?
उड़ा-उड़ा कर ओझल कहाँ करेगा
पवन अक्षरों को जग की आँखों से?

मरण नहीं सारा सर्वस्व हरेगा,
चिता नही सब कुछ समेट पायेगी,
जो कुछ भी जल जाय, अन्त मे सबके,
एक ज्योति जीवित ही रह जायेगी।

जैसे लाखों रसिक प्यार करते है,
वैसे ही, आगे भी प्यार करेंगे;
फूलों से, पत्तों से, ओस-कणों से
लोग तुम्हारा भी सत्कार करेंगे।

तुम्हें देख कर उन्हें याद आयेगा,
पहले भी नगराज कभी डोला है;
बाल-सूर्य को नमस्कार करने को
पहले भी कोई मृगेन्द्र बोला है।

पहले भी कोई जन घूम चुका है
गीतो के अम्बर में तूफ़ानों पर;
आँधी को पायले पिन्हा पहले भी
कोई कवि है नचा चुका गानो पर।

कोलाहल से भरे विश्व मे कोई
कला-योग पहले भी साध चुका है।
निराकार स्वप्नो की आभाओं को
साँसों के धागों से बाँध चुका है।

रचो सेतु, दूरी अब भी बाक़ी है,
जन्म नही अपना जी बहलाने को;
शिल्प-श्रमिक हम आते हैं जीवन को
इस युग से उस युग में पहुँचाने को।

रचो सेतु जो भाव मूकता में हों,
दिन ढलने लग गया, उन्हे द्रुत स्वर दो;
निर्विकल्प हो रहो सेतु-रचना में,
भूँक रहे जो उन्हे नही उत्तर दो।

१९५३ ई०]

अमरता

कभी वह भी समय होगा ?
सुयश की एषणा जो शेष है, नि.शेषता लेगी,
श्रवण के चर्म की यह गुदगुदी भी छूट जायेगी ?
न होगी बेकली मन में मरण के बाद जीने की ?
अमरता से लगी आशा तुनुक यह टूट जायेगी ?

कहाँ था सात युग पहले ? न कोई थाह मिलती है।
न इस असहायता से क्लेश या आनन्द होता है ;
अनागत के तिमिर को चीर कर तब देखना यह क्या,
कि हूँ निश्चिह्न या कोई वहाँ भी नाम ढोता है ?

पड़ा हूँ एक छीटे-सा तुम्हारे शून्य के पट पर,
बड़ी यह कामना, मुझको अमरता में डुबो देना।
मरण, सचमुच, मरण हो; चिह्न कोई भी न रह जाये,
चलूँ जब छोड़ कर इसको, गगन का दाग धो लेना।

शुभाशुभ जो किया अब तक, सभी को भस्म कर दोगे ?
सनातन शून्यता के सिन्धु मे सम्पूर्ण लय होगा ?
तुम्हारी आग में कर स्नान सब कुछ भूल जाऊँगा ?
अमर की मृत्यु के स्वामी ! कभी वह भी समय होगा ?

१९५४ ई०]

अशब्द

घन पर धर कर चरण, किरण का लिये क्षीण आधार,
सोच रहा, कैसे खोलूँ, अज्ञात विश्व का द्वार।
अविश्लिष्ट जग के मुख पर से कैसे शिला हटाऊँ ?
धरूँ कौन-सा रूप ? स्वप्न के भीतर कैसे जाऊँ ?
खोल-खोल, निज नयन काल ! पलकों में करूँ प्रवेश,
देखूं मिहिर-विवर से चल अज्ञात हृदय का देश।

अविश्लिष्ट वह देश जहाँ पर मनोमग्न जीवन है,
चेतनता निष्कम्प जहाँ नीरवता मे कम्पन है।
सिमटा सार निखिल प्राणों का जिसके निभृत निलय में,
अक्षय अमृत-घटी-सा जो विजड़ित है काल-हृदय में।
स्वप्न देह धर जहाँ विचरते मिट्टी पर पग देकर,
और सत्य झिलमिल रहता आभास स्वप्न का लेकर।
जहाँ मरण के रन्ध्र-रन्ध्र में कूजित अमर प्रकाश,
आलिगन मे बँधे पड़े है मृत्ति और आकाश।

खोलो, खोलो अजिर-द्वार, अज्ञात जगत के स्वामी !
अविश्लिष्ट, अव्यक्त भेद का व्यक्त मनुज मैं कामी।

छूने दो आवरणहीन कर से अरूप सपने को,
पहुँचाने दो परे स्पर्श की सीमा से अपने को।
तनिक अतल तक डूब देखने दो, खाई यह क्या है,
समाधान उठता रहता जिसमें से नित्य नया है।
गहन मूकता मे, शब्दों की मुखर परिधि के पार,
प्राणों को सुनने दो प्राणों का अशब्द गुंजार।

१९४९ ई०]

नासदीय

दिवस नही था, रात नही थी, जीवन-मरण नहीं था;
तत्त्वों का अस्तित्व अनस्तित्वों में छिपा कही था।
पर, क्या इसी भाँति अनुपस्थित था यह महागगन भी?
सृष्टि नहीं थी और नहीं था उसका अवलम्बन भी?

तब जो था वह कहाँ पड़ा था? उसका कहाँ शयन था?
जिससे निकला विश्व, तत्त्व वह जड़ था या चेतन था?
या कुछ भी था नही? बना जो कुछ वह स्वयं बना है?
देख रहे हम जिसे, सृष्टि वह आकस्मिक घटना है?

सब है नियमहीन ? सब के आकस्मिक जन्म-मरण हैं?
यों ही बिखर पड़े? हम सब आकस्मिकता के कण है?
छले किसे क्या कह कर? प्रश्नों पर अधिकार हमारा;
बाक़ी तो सब भाँति तिमिरपूरित संसार हमारा।

खुलता नही कपाट, बुद्धि की सेना अकुलाती है,
क्षितिज-कूल से बार-बार टकरा कर फिर आती है।
है कोई जो कहे, भूमि कब कढ़ी सिन्धु के जल से?
और सिन्धु फिर कब निकला वसुधा के अन्तस्तल से?

पहली किरण तिमिर की छाती में किस दिन लहरायी?
पहले-पहल उषा किसकी आँखों को पड़ी दिखायी?
सुना किसी ने प्रथम जागरण-स्वर सद्यःस्फुट भव का?
रवि के नमस्कार मे अर्पित गर्जन कण्ठीरव का?

ठहरो अगम प्रश्न के स्रोतो! मन में कुछ गुनने दो।
अपना समाधान अपनी ही धारा में सुनने दो।

१९५३ ई०]

इच्छाहरण

धरती ने भेजा था सूरज-चाँद स्वर्ग से लाने,
भला दीप लेकर लौटूँ किसको क्या मुख दिखलाने?
भर न सका अंजलि, तू पूरी कर न सका यह आशा,
उलटे, छीन रहा है मुझसे मेरी चिर-अभिलाषा।
रहने दे निज कृपा, हुआ यदि तू ऐसा कंगाल,
मनसूबे मत छीन, कलेजे से मत कसक निकाल।

माना, है अधिकार तुझे दानी! सब कुछ देने का,
मगर, निराला खेल कौन इच्छाएँ हर लेने का?
अचल साध्य-साधक हम दोनों, अचल कामना-कामी,
इतनी सीधी बात तुझे ही ज्ञात न अन्तर्यामी?
माँग रहा चन्द्रमा स्वर्ग का, माँग रहा दिनमान,
नही माँगने मैं आया इच्छाओं का अवसान।

१९५० ई०]

तुम क्यों लिखते हो ?

तुम क्यों लिखते हो? क्या अपने अन्तरतम को
औरों के अन्तरतम के साथ मिलाने को?
अथवा शब्दो की तह पर तह पोशाक पहन
जग की आँखों से अपना रूप छिपाने को?

यदि छिपा चाहते हो दुनिया की आँखों से,
तब तो मेरे भाई! तुमने यह बुरा किया।
है किसे फिक्र ही यहाँ, कौन क्या लाया है?
तुमने ही क्यों अपने को अद्भुत मान लिया?

कहनेवाले जाने, क्या-क्या कहते आये,
सुननेवालो ने मगर, कहो, क्या पाया है?
मथ रही मनुज को जो अनन्त जिज्ञासाएँ,
उत्तर क्या उनका कभी जगत में आया है?

अच्छा, वोलो, आदमी एक मैं भी ठहरा,
अम्बर से मेरे लिए चीज क्या लाये हो?
मिट्टी पर हूँ मैं खडा, जरा नीचे देखो,
ऊपर क्या है जिस पर टकटकी लगाये हो?

तारों में है संकेत ? चाँदनी में छाया ?
बस, यही बात हो गयी सदा दुहराने की ?
सनसनी, फेन, बुदबुद, सब कुछ सोपान बना,
अच्छी निकली यह राह सत्य तक जाने की।

दावा करते है शब्द जिसे छू लेने का,
क्या कभी उसे तुमने देखा या जाना है ?
तुतले कम्पन उठते है जिस गहराई से,
अपने भीतर क्या कभी उसे पहचाना है ?

जो कुछ खुलता सामने, समस्या है केवल,
असली निदान पर जड़े वज्र के ताले है;
उत्तर, शायद, हो छिपा मूकता के भीतर,
हम तो प्रश्नों का रूप सजानेवाले है।

तब क्यों रचते हो वृथा स्वांग, मानो, सारा
आकाश और पाताल तुम्हारे कर में हो ?
मानो, मनुष्य नीचे हो तुमसे बहुत दूर
मानो, कोई देवता तुम्हारे स्वर मे हो।

मिहिका रचते हो ? रचो ; किन्तु, क्या फल इसका ?
खुलने की जोखिम से वह तुम्हें बचाती है ?
लेकिन, मनुष्य की द्वाभा और सघन होती,
धरती की किस्मत और भरमती जाती है।

धो डालो फूलों का पराग गालों पर से,
आनन पर से यह आनन अपर हटाओ तो ;
कितने पानी में हो, इसको जग भी देखे,
तुम पल भर को केवल मनुष्य बन आओ तो।

सच्चाई की पहचान कि पानी साफ़ रहे,
जो भी चाहे, ले परख जलाशय के तल को;
गहराई का वे भेद छिपाते हैं केवल,
जो जान-बूझ गदला करते अपने जल को।

१९५० ई०]

नग्नता

एक नग्नता वह थी जब भू के पहले नर-नारी
सहज नग्न थे, किन्तु, नग्न होने का ज्ञान नहीं था;
दोनों के सब अग खुले थे, सब समान सुन्दर थे,
इस अवयव पर अधिक और उस पर कम ध्यान नही था।

नयन देर तक नही किसी द्रुम के समीप रुकते थे
विचरण करते हुए देह की उघरी फुलवारी मे;
नारी को नर में रहस्य तब तक न भास पाया था,
नही जगा था नर का, त्यो ही, कौतूहल नारी में।

तब कहते हैं, दृष्टि पुरुष की भूल भरे उपवन को,
किसी-किसी क्यारी मे रमने लगी चेतना खोकर;
जहाँ-जहाँ वह गड़ी, लगी लगने गुदगुदी त्वचा में,
आखिर, जाग पड़ी नारी लज्जा से आकुल होकर।

लज्जा प्रथम शील नारी का, शीलमयी सकुचाई,
पत्तों से आवृत कर तन को, करतल से लोचन को;
दृग मूँदे-मूँदे ही सम्भ्रममयी सहम कर बोली,
प्रियतम! तुम भी किसी भाँति आवृत कर लो निज तन को।

तब से ही, सौन्दर्य आवरण में छिपता आया है,
तब से ही, लज्जा का हम आदर करते आये है;
खो न जाय वह ज्योति कही, जो वसनों में बसती है,
इस विचार से खुली नग्नता से डरते आये है।

एक नग्नता यह भी है जब तन तो नग्न नही है,
लेकिन, मन है विकल आवरण से बाहर आने को;
लज्जा वसनों में अनेक वातायन खोज रही है,
देह पहनती चीर नग्नता अपनी दिखलाने को।

वल्कल भी थे अलम् ; किन्तु, अब नहीं पूर्ण अम्बर भी,
लज्जा का शुभ कवच, न जानें, मन है या कि वसन है।
हृदय नग्न तो सात पटों के भी आवरण वृथा है,
वसन व्यर्थ यदि भली-भाँति आवृत भीतर का मन है।

१९५३ ई०]

गृह-रचना

लोमश ऋषि ने नहीं बनाया गेह।
प्रलय-पयोधि-बीचियों पर यद्यपि वे भी तिरते हैं
और विचरते है नवीन गीली-गीली वसुधा पर;
वसुधा, जो हर बार काल का शरबत बन जाती है
महाप्रलय के प्लावन में शक्कर-समान घुलमिल कर।
और निकल आती है फिर हर बार काल के मुख से
नयी चारुता लिये, शीर्णता का कालुष्य बहा कर;
पावक में गल कर सुवर्ण ज्यों नया रूप पाता हो,
या जैसे कर स्नान अमृत की किसी दिव्य धारा में
हो जाये कामिनी पुनः पावन बालिका कुमारी।
कहते जिसको महानाश हम, उस संहारक का भी
आधा अंग अमृत-पूरित है, आधा अंग गरल है।

लोमश ऋषि ने नही बनाया गेह।
सोचा, विस्तृत महाकाश से भाग खड़ा होना क्या?
छिपना क्या घट-भेक-सदृश दीवारों के घेरों में?

मन पर देह, देह पर मोटी ईंटों की दीवारें।
लेकिन, हम इस तरह कैद में कब तक रह सकते है?
एक रोज टूटती देह, दीवारें ढह पड़ती है,
घट का वन्दी व्योम महा अम्वर मे खो जाता है।
ऐसा ही था जबकि शून्य पर घेरा नही पड़ा था,
ऐसा ही होगा जब देही पर दीवार न होगी।

दीवारे ऊँची कर ऊपर छत का जोड़ मिलाना
महाकाश से अपने को विच्छिन्न बना लेना है।
नही देखते प्रलय छतो के नीचे बसनेवाले,
उसे देखता, किसी ओर जिसके दीवार नही हो।

साँसे रुकती नहीं तुम्हारी क्या इन दीवारों से?
प्राणों पर लगती न भार-सी क्या लक्ष्मण-रेखाएँ?
और घरों में क्या केवल जीवित जन ही बसते है?

मादकता के प्रेत, कामना की काली छायाएँ,
मरी हुई कल्पना, वाष्प निर्धूम, बुझे चिन्तन का,
सब रहते है टँगे लिपट कर मकड़ी के जालो से
याकि लटक रोगिणी वायु की उलझी हुई लटों से।

जीवित करो घ्राण किरणो से पोपित ताम्र पवन में,
फिर तो तुम इस कक्ष-बीच क्षण भर न ठहर पाओगे।

छाया के नीचे पलती जो, धूप न सह सकती है,
वायु न मिलती जिसे, रग उसका पीला होता है।
खूव किया लोमश ने कोई गेह न कभी वनाया,
छाती फुला पिया जी भर झंझा से साँस लगाकर
वह संजीवन जो कि सिर्फ झझाओं मे आता है।

और रोम के कूप-कूप को भरा अमृत-धारा से,
वह धारा जो दोपहरो की किरणों मे झरती है।

मरी हुई चाँदनी ओढ़कर घर में सोनेवालो!
चूम रहे तुम जिन्हें, चूमने की वे चीज नहीं हैं।
न तो प्राण का कम्पन इनमें और न ताप लहू का,
ये तो केवल प्राणहीन तन हैं मुरदे सपनों के।

गृह रचने का शाप, देह तो घेरे में पड़ती है,
लेकिन, मन चूने की उजियाली में खो जाता है।
और एक उजियाली ही तब सब कुछ बन जाती है,
फिर मनुष्य को और न कोई नया रंग भाता है।

मिल सकती ताजगी अगर वातायन बड़े-बड़े हों,
मगर, खिडकियाँ सन्धिपत्र के ही आखिर पन्ने है।
ये पन्ने खुलते जब शर्तों में मिठास होती है,
हो जाते वे बन्द जभी तूफ़ान बड़ा आता है।

१९५० ई०]

काँपती है वज्र की दीवार।
नींव में से आ रहा है क्षीण हाहाकार।

जनतन्त्र का जन्म

(२६ जनवरी १९५० ई०)

सदियों की ठण्डी-बुझी राख सुगबुगा उठी,
मिट्टी सोने का ताज पहन इठलाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

जनता ? हाँ, मिट्टी की अबोध मूरतें वही,
जाडे-पाले की कसक सदा सहनेवाली,
जब अंग-अंग मे लगे साँप हों चूस रहे,
तब भी न कभी मुँह खोल दर्द कहनेवाली।

जनता, हाँ, लम्बी-बड़ी जीभ की वही कसम,
"जनता, सचमुच ही बड़ी वेदना सहती है।"
"सो ठीक, मगर, आखिर, इस पर जनमत क्या है?"
"है प्रश्न गूढ़; जनता इस पर क्या कहती है?"

मानो, जनता हो फूल जिसे एहसास नही,
जब चाहो तभी उतार सजा लो दोनों मे;
अथवा कोई दुधमुँही जिसे बहलाने के
जन्तर-मन्तर सीमित हो चार खिलौनों में।

लेकिन, होता, भूडोल बवण्डर उठते हैं,
जनता जब कोपाकुल हो भृकुटि चढ़ाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

हुंकारों से महलों की नींद उखड़ जाती,
साँसों के बल से ताज हवा में उड़ता है;
जनता की रोके राह, समय में ताब कहाँ?
वह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता है।

अब्दों, शताब्दियों, सहस्राब्द का अन्धकार
बीता; गवाक्ष अम्बर के दहके जाते हैं;
यह और नहीं कोई, जनता के स्वप्न अजय
चीरते तिमिर का वक्ष उमड़ते आते हैं।

सबसे विराट जनतन्त्र जगत का आ पहुँचा,
तैंतीस कोटि-हित सिंहासन तैयार करो;
अभिषेक आज राजा का नहीं, प्रजा का है,
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।

आरती लिये तू किसे ढूँढ़ता है मूरख,
मन्दिरों, राजप्रासादों में, तहखानों में?
देवता कहीं सड़कों पर गिट्टी तोड़ रहे,
देवता मिलेंगे खेतों में, खलिहानों में।

फावड़े और हल राजदण्ड बनाने को हैं,
धूसरता सोने से श्रृंगार सजाती है;
दो राह, समय के रथ का घर्घर-नाद सुनो,
सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।

१९५० ई०]

स्वर्ग के दीपक

कहता हूँ, मौसिम फिरा, सितारो ! होश करो,
कतरा कर टेढ़ी चाल भला अब क्या चलना ?
माना, दीपक हो बड़े दिव्य, ऊँचे कुल के,
लेकिन, मस्ती मे अकड़-अकड़ कर क्या जलना ?

सब हैं परेड मे खड़े, ज़रा तुम भी तनकर,
सिलसिला बाँध हो जाओ खड़े कतारो मे ;
कैसे लगता है भला तुम्हे गुम्फित रहना
इस तरह, तिमिर के टेढ़े-मेढ़े तारो में ?

आगाही सुनते नही, सितारे हँसते है,
कहते है, कवि की कथा निराली होती है ;
देखती कला विधि के विधान में भी त्रुटियाँ,
कल्पना सत्य ही, ख़ाम-ख़याली होती है।

मिट्टीवाले बँधकर कतार मे चला करें,
हमको क्या ? हम तो अमरलोक के वासी है,
अम्बर पर कब मरनेवालो की रीति चली ?
सुरपति होकर भी इन्द्र प्रसिद्ध विलासी है।

अच्छा, तब प्यारे! और चार दिन मौज करो,
भूडोल नही नीचे मिट्टी पर दम लेगा;
लीलेगा सारा व्योम और पूर्णाहुति में
वह नही स्वर्ग से कभी ग्रास कुछ कम लेगा।

मैं देख रहा हूँ साफ़, कौंधती है बिजली
अँधियाली में भावी की घोर घटाओं पर;
औ' मुक्ति वज्र बनकर अमोघ-सी टूट रही
नीचे से उड़ ऊपर की बड़ी अटाओं पर।

मत हँसो कि मन में छिपी हमारी आँखों पर
जादू-टोने का धुआँ न छाया करता है;
देखता नियन्ता जो कुछ भी जग से छिपकर,
सबसे पहले वह हमें दिखाया करता है।

मैं देख रहा हूं, शैल उलटकर गिरते है,
सागर का जल ऊपर को भागा जाता है;
है नाच रहा घिरनी बन कर अम्बर सारा,
नक्षत्रपुंज पत्तों-सा चक्कर खाता है।

क्या तुम सँभाल लोगे इस व्योम-विवर्तन को?
जादू-टोने से हवा न बाँधी जायेगी;
लाकर क़तार के भीतर तुम्हे खड़ा करने
रूई के पुतलो! निश्चय, आँधी आयेगी।

१९५१ ई०]

संस्कार

कल कहा एक साथी ने, तुम बर्बाद हुए,
ऐसे भी अपना भरम गँवाया जाता है?
जिस दर्पण में गोपन-मन की छाया पड़ती,
वह भी सब के सामने दिखाया जाता है?

क्यों दुनिया तुमको पढ़े फ़कत उस शीशे मे,
जिसका परदा सबके सम्मुख तुम खोल रहे?
'इसके पीछे भी एक और दर्पण होगा,'
कानाफूसी यह सुनो, लोग क्या बोल रहे?

तुम नही जानते बन्धु! चाहते हैं ये क्या;
इनके अपने विश्वास युगो से आते है;
है पास कसौटी, एक सड़ी सदियोंवाली,
क्या करें? उसी के ऊपर हमें चढ़ाते हैं।

सदियों का वह विश्वास, कभी मत क्षमा करो,
जो हृदय-कुज मे बैठ तुम्ही को छलता है;
वह एक कसौटी, लीक पुरानी है जिस पर,
मारो उसको जो डंक मारते चलता है।

जब डंकों के बदले न डंक हम दे सकते,
इनके अपने विश्वास मूक हो जाते हैं;
काटता, असल में, प्रेत इन्हे अपने मन का,
मेरी निर्विषता से नाहक घबराते हैं।

१९५० ई०]

काँटों का गीत

गीत नही, काँटे ले आओ।

चुप क्यों हो?
क्या सोच रहे हो, वापू इससे बिगड़ उठेंगे?
यह भी कोई तीर-तुपक है?
अमरीका का एटम बम है?
फ़कत नोक भर ही चुभती है,
बाकी तो यह बहुत नरम है।

जब-जब फिरते गीत कान पर,
सुस्ती तन मे भर जाती है;
इस मनुष्य की देह जानवर-सी
कुछ और पसर जाती है।

मानो, गीत नही ये कौए
बैठ काम को सुहलाते है;
जादू इनका यही, भैंस को
ये समाधि मे ले जाते है।

यह मनुष्य वह नहीं
गीत से जिसका हृदय हिलाते थे तुम;
दीपक की लौ छुला
मोम-सा बार-बार पिघलाते थे तुम।

तब का मनुज भाव का भूखा,
भाव दीप-सा बल जाता था;
मिट्टी ही थी नरम, मेघ का
जादू उस पर चल जाता था।

वह मनुष्य मर गया;
शेष जो है, लक्ष्मी का नया जार है।
गीत उसे क्या,
जो कुबेर-पद पाने का उम्मीदवार है?

चौंकेगा यह गान श्रवण कर?
उच्च शिखर पर की पुकार
सुन कर व्याकुल हो पछतायेगा?
सोने का तज मोह साँप यह
गगरी छोड़ चला जायेगा?

नहीं, गीत के फूलों की
खुशबू का असर नहीं वह होगा।
अगर गीत को छोड़
तुम्हारे पास नहीं कोई इलाज हो,
तो लाओ वे गीत
कि जिनकी कड़ियाँ काँटेदार बनी हों;
झरबेरों के गीत कि जिनकी
हरियाली तीखी होती है।

"मगर-पुच्छ, सकुची, आड़ी का
जहर नहीं, आघात नही हो।"
मान लिया। बस, इसीलिए, तो
कहता हूँ, वे गीत बनाओ;
जिनके पत्तों की कोरों पर
काँटों की बूँदे बिखरी हों।

नही सूझता सत्य याकि
जब गीत सत्य से घबराते है;
बेचारे क्या करें? विवश
फूलों की ओर चले जाते हैं।

और जगत् की बात न पूछो,
फूल सभी को हर्षित करता;
रंग और खुशबू के मीठे
पुतलों से कोई कब डरता?

मगर, सत्य जब शीश उठाता,
पहले काँटे ही आते है;
फूलों के ये बड़े-बड़े प्रेमी
चुपचाप खिसक जाते है।

जो सोचो, बस, वही कहो,
जब सब से बड़ी बात कहनी हो।
सिर्फ सत्य मुँह से निकाल दो,
जब भी कड़ी बात कहनी हो।

कहो कि जैसे उड़ी कलँगियाँ,
जैसे उड़े जरी के जामे;
बेपनाह जिस तरह रहे उड़
राजाओं के मुकुट हवा में।

उसी तरह ये नोट तुम्हारे
पापी! उड़ जानेवाले हैं;
तप भी मारा गया, माल भी
और लोग पानेवाले हैं।

कहो, मार्क्स से डरे हुओं का
गाँधी चौकीदार नही है;
सर्वोदय का दूत किसी
संचय का पहरेदार नही है।

आशय में जिसके असत्य,
हिंसा से जिसकी कुत्सित काया,
सत्य न देगा धूप,
अहिंसा उसे न दे पायेगी छाया।

हैं कुछ ऐसी चीज कि जिसको
लिये अहिंसा भी जलती है;
जिसकी दारुण, प्रखर ज्योति
दिन-रात हिंसकों को खलती है।

दूध-फूल-चाँदनी मात्र कह
कौन व्यंग्य करता है, बोलो?
तप में बसती आग जहाँ,
मन्दिर का वह दरवाजा खोलो।

हठी ! तुम्हारे पापों से
फिर एक प्रलय छानेवाला है।
गाँधी ने भूचाल किया,
तूफ़ान वही लानेवाला है।

१६५२ ई०]

नींव का हाहाकार

काँपती है वज्र की दीवार।
नीव मे से आ रहा है क्षीण हाहाकार।

जानते हो, कौन नीचे दब गया है?
दर्द की आवाज़ पहले भी सुनी थी?
या कि यह दुष्काण्ड बिलकुल ही नया है?

वस्त्र जब नूतन बदलते हो किसी दिन,
खून के छीटे पड़े भी देखते हो?
रात को सूनी, सुनहरी कोठरी मे
मौन कुछ मुर्दे खड़े भी देखते हो?

रोटियों पर कौर लेते ही कहीं से
अश्रु की भी बूंद क्या चूती कभी है?
बाग में जब घूमते हो शाम को तब
सनसनाती चीज भी छूती कभी है?

जानते हो, यह अनोखा राज़ क्या है?
वज्र की दीवार यह क्यों काँपती है?
और गूंगी ईंट की आवाज क्या है?

तोड़ दो इसको, महल को पस्त औ' बर्बाद कर दो।
नींव की ईंटे हटाओ।
दब गये है जो, अभी तक जी रहे है।
जीवितों को इस महल के बोझ से आज़ाद कर दो।

तोड़ना है पुण्य जो तोड़ो खुशी से।
जोड़ने का मोह जी का काल होगा।
अनसुनी करते रहे इस वेदना को,
एक दिन ऐसा अचानक हाल होगा :—

वज्र की दीवार यह फट जायेगी।
लपलपाती आग या सात्विक प्रलय का रूप धर कर
नीव की आवाज़ बाहर आयेगी।

वज्र की दीवार जब भी टूटती है,
नीव की यह वेदना विकराल बन कर छूटती है।
दौड़ता है दर्द की तलवार बन कर
पत्थरो के पेट से नरसिंह ले अवतार।
काँपती है वज्र की दीवार।

१९५३ ई०]

शबनम की ज़ंजीर

रचना तो पूरी हुई, जान भी है इसमें ?
पूछूँ जो कोई बात, मूर्त्ति बतलायेगी ?
लग जाय आग यदि किसी रोज देवालय में,
चौकेगी या यह खड़ी-खडी जल जायेगी ?

ढाँचे में तो सब ठीक-ठीक उतरा, लेकिन,
बेजान बुतों के कारीगर, कुछ होश करो ;
जब तक पत्थर के भीतर साँस नही चलती,
सौगन्ध इसी की तुम्हे, न तुम सन्तोष करो।

भर सको अगर तो प्रतिमा में चेतना भरो।
यदि नही, निमन्त्रण दो जीवन के दानी को,
विभ्राट, महाबल जहाँ थके-से दीख रहे,
आगे आने दो वहाँ क्षीणबल प्राणी को।

तैरता हवा में जो, वह क्या भारी होगा ?
सपनों के तो सारथी क्षीणबल होते है ;
संसार पुष्प से अपने को भूषित करता,
ये गन्धभार अपनी आत्मा में ढोते है।

सपनों का वह साथी, यान जिसका कोमल
आँखो से ओझल हृदय-हृदय मे चलता है ;
जिसके छूते ही मन की पलक उघर जाती,
विश्वास भ्रान्ति को भेद दीप-सा बलता है।

सपनों का वह सारथी, रात की छाया में,
आते जिसकी श्रुति मे सवाद सितारों से,
सरिताएँ जिससे अपना हाल कहा करती,
बाते करता जो फूलो और पहाडो से।

पपडियाँ तोड फूटते जिन्दगी के सोते,
रथ के चक्के की लीक जहाँ भी पडती है।
प्रतिमा सजीव होकर चलने-फिरने लगती,
मिट्टी की छाती मे चेतना उमड़ती है।

छेनी-टाँकी क्या करे? जिन्दगी की साँसे
लोहे पर धरकर नही बनायी जाती हैं;
धाराएँ जो मानव को उद्वेलित करती,
यन्त्रों के बल से नही बहायी जाती है।

विज्ञान काम कर चुका, हाथ उसका रोको,
आगे आने दो गुणी! कला कल्याणी को।
जो भार नही विभ्राट, महाबल उठा सके,
दो उसे उठाने किसी क्षीणबल प्राणी को।

मानव-मन को बेधते फूल के दल केवल,
आदमी नही कटता बरछों से, तीरों से;
लोहे की कड़ियो की साजिश बेकार हुई,
बाँधो मनुष्य को शबनम की जंजीरो से।

१९५० ई०]

भूदान

कौन टोकता है शंका से? चुप रह, चुप, अपलापी!
क्रिया-हीन चिन्तन के अनुचर, केवल ज्ञान-प्रलापी!
नही देखता, ज्योति जगत् में नूतन उभर रही है?
गाँधी की चोटी से गंगा आगे उतर रही है।
अन्धकार फट गया, विनोबा में धर कर आकार
घूम-घूम वेदना देश की घर-घर रही पुकार।

ओ सिकता मे चंचु गाड़ कर सुख से सोनेवालो!
चिन्ताएँ सब डाल भाग्य पर निर्भय होनेवालो!
पहुँच गयी है घडी, फ़ैसला अब करना ही होगा,
दो में एक राह पर पगले! पग धरना ही होगा।
गाँधी की लो शरण, बदल डालो मिलकर संसार।
या फिर रहो कल्कि के हाथो कटने को तैयार।

अपने को ही नही देख, टुक, ध्यान इधर भी देना,
भूमि-हीन कृषको की कितनी बडी खडी है सेना।
बाँध तोड जिस रोज फौज खुलकर हल्ला बोलेगी,
तुम दोगे क्या चीज? वही जो चाहेगी, सो लेगी।

कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट।
मच जायेगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट।

पहचानो, यह कौन द्वार पर अधनंगा आया है,
किस कारण अधिकार स्वयं बन भिखमंगा आया है?
समझ सको यदि मर्म, बुलाये बिना दौड़ कर आओ,
जो समझो तुम अंश अपर का उसे स्वयं दे जाओ।
स्वत्व छीन कर क्रान्ति छोडती कठिनाई से प्राण।
बड़ी कृपा उसकी, भारत में माँग रही वह दान।

१९५२ ई०]

आशा की वंशी

लिख रहे गीत इस अन्धकार में भी तुम
रवि से काले बरछे जब बरस रहे है,
सरिताएँ जम कर बर्फ हुई जाती है,
जब बहुत लोग पानी को तरस रहे है?

इन गीतो से यह तिमिर-जाल टूटेगा?
यह जमी हुई सरिता फिर धार धरेगी?
बरसेगा शीतल मेघ? लोग भीगेंगे?
यह मरी हुई हरियाली नही मरेगी?

तो लिखो, और मुझ में भी जो आशा है,
उसको अपने गीतो में कही सजा दो।
ज्योतियाँ अभी इसके भीतर बाकी है,
लो, अन्धकार मे यह बाँसुरी बजा दो।

१९५४ ई०]

कवि और समाज

ब्रह्माणी की बाँहो से छूटी बीन नही,
उड्डीन स्वप्न में नही मेनका के मन का;
भूले से जो आ गया नही मै वह समीर,
कोकिल मैं भटका हुआ नही नन्दन-वन का।

अनजान दूरवासी फूलों की गन्ध नही,
मैं लहर नही अम्बरतल की झंकारों की;
बेसुध पराग मैं नही अगोचर के वन का,
मैं गूँज नही हर के धनु की टंकारों की।

रागिनी तुम्हारी धमनी में बजनेवाली,
मैं दाह तुम्हारे भीतर भरे अनल का हूँ,
शम्पाओं की हूँ कड़क तुम्हारे ही नभ की
गर्जन मै तुममें छिपे हुए बादल का हूँ।

मै हरसिंगार का वृक्ष मूल जिसका तुममे,
ये फूल नही, सपनो के गुच्छ तुम्हारे है,
मेरी रचना यह नील चँदोवा है केवल,
जगमगा रहे, वे सभी तुम्हारे तारे है।

मैं एक खण्ड वन-वेणु सात छिद्रोंवाला,
जिसमें से तुम मनचाही तान उठाते हो;
फूंकते कभी प्राणों की आग तरल करके,
वेदना कभी भींगी उमंग मे गाते हो।

ऐसे देखो मत मुझे, अरे, मैं फूल नही,
जो अनाहूत अम्बर से उड़ कर आया है।
मैं उठा कि तुमने उठने को लाचार किया,
आया इसलिए कि तुमने मुझे बुलाया है।

अपनी पीडा कहने का कब अवकाश मिला?
मै सदा तुम्हारा दर्द बोलता आया हूँ।
जिनके ऊपर सौ चट्टाने थी पड़ी हुई,
उन बेकलियों का भेद खोलता आया हूँ।

क्या भूल गये वह व्यथा, फूटने की ख़ातिर
जब आग हृदय के घेरों में अकुलाती थी,
अन्तर्मन की बेकली अँधेरे में उठ कर,
अन्तर में ही जब तड़प-तडप रह जाती थी?

जब रंगों के उद्वेलित पारावार लिये
मेघों के ऊपर मेघ प्राण मे घिरते थे,
जी खोल बरसने को व्याकुल हर ओर विफल
आँसू की छोटी राह खोजते फिरते थे।

वाणी-विहीन की व्यथा, हाय! वह क्या कहिये,
जब ज्वारो पर आवेग ज्वार के आते है;
खुलता न कण्ठ, विप्लवी क्रोध मे भरे हुए
मुद्रित कपाट को पीट-पीट रह जाते है।

बेकली तुम्हारी मुझमें जब साकार हुई,
चट्टान द्वार की टूटी चरण-प्रहारों से।
हुंकारों से वन नही, भुवन गुंजार उठा,
पट गयी देश की भूमि अश्रु की धारो से।

मिट्टी पर तब से जहाँ तुम्हारा स्वेद गिरा,
मैंने उमग मे भर कर कोई गान लिखा,
औ' जहाँ-कही शोणित की पतली धार चली,
धूसर प्रतिभा ने वहाँ एक अभिमान लिखा।

प्रत्येक चरण पर अंगारे जो चमक रहे,
आगे भी उनकी पाँत चमकती जायेगी;
देवता! चढ़ा तुम पर जो रत्न-किरीट नही
हंसिनी कभी उसको क्यो शीश झुकायेगी?

है शेष यज्ञ जब तक अशेष हृतभागों का,
शिंजिनी धनुष की तब तक नही नरम होगी,
शीतल होता जब तक जन-मन का ताप नही,
वंशी के उर की आग कहाँ से कम होगी?

जब तक ये ज्वालामुखी तुम्हारे जलते हैं,
सन्तप्तकण्ठ कण्ठीरव मूक नही होगा;
छूटते रहेगे बाण, पन्थ मे पड़ा हुआ
जब तक विशाल पर्वत दो टूक नही होगा।

सुनना हो जिनको, सुने, कि मैं मायापुर में
रंगो के मोहक पाश तोड़ने आया हूँ,
जो आग खेत की पगडण्डी पर दौड रही
सुरपुर मे उसकी लपट छोड़ने आया हूँ।

कहता हूँ, ओ मखमल-भोगियो! श्रवण खोलो,
टुक सुनो, विकल यह नाद कहाँ से आता है।
है आग लगी या कही लुटेरे लूट रहे?
वह कौन दूर पर गाँवों में चिल्लाता है?

जनता की छाती भिदे और तुम नींद करो,
अपने भर तो यह जुल्म नही होने दूँगा।
तुम बुरा कहो या भला, मुझे परवाह नही,
पर, दोपहरी में तुम्हें नही सोने दूँगा।

हो कहाँ अग्निधर्मा नवीन ऋषियो? जागो,
कुछ नयी आग, नूतन ज्वाला की सृष्टि करो।
शीतल प्रमाद से ऊँघ रहे है जो, उनकी
मखमली सेज पर चिनगारी की वृष्टि करो।

गीतों से फिर चट्टान तोडता हूँ साथी,
झुरमुटे काट आगे की राह बनाता हूँ।
है जहाँ-जहाँ तमतोम सिमट कर छिपा हुआ,
चुनचुन कर उन कुजों में आग लगाता हूँ।

१९५४ ई०]

वहाँ नही तू जहाँ जनों से ही मनुजों को भय है;
सब को सब से त्रास सदा, सब पर सब का संशय है।
जहाँ स्नेह के सहज स्रोत से हटे हुए जनगण है,
झण्डों या नारों के नीचे बँटे हुए जनगण है।
कैसे इस कुत्सित, विभक्त जीवन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

तू तो है वह लोक जहाँ उन्मुक्त मनुज का मन है;
समरसता को लिये प्रवाहित शीत-स्निग्ध जीवन है।
जहाँ पहुँच मानते नही नर-नारी दिग्बन्धन को;
आत्म-रूप देखते प्रेम में भरकर निखिल भुवन को।
कही खोज इस रुचिर स्वप्न पावन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

भारत नही स्थान का वाचक, गुण विशेष नर का है,
एक देश का नही, शील यह भूमण्डल भर का है।
जहाँ कही एकता अखण्डित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में वहाँ खड़ा भारत जीवित भास्वर है।
निखिल विश्व को, जन्मभूमि-वन्दन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मै भारत! किसको नमन करूँ मैं?

खण्डित है यह मही शैल से, सरिता से, सागर से;
पर, जब भी दो हाथ निकल मिलते आ द्वीपान्तर से;
तब खाई को पाट शून्य में महा मोद मचता है;
दो द्वीपों के बीच सेतु यह भारत ही रचता है।
मंगलमय इस महासेतु-बन्धन को नमन करूँ मैं।
किसको नमन करूँ मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं?

किसको नमन करूँ मैं ?

तुझको या तेरे नदीश, गिरि, वन को नमन करूँ मैं ?
मेरे प्यारे देश ! देह या मन को नमन करूँ मैं ?
किसको नमन मरूँ मैं भारत ! किसको नमन करूँ मैं ?

भू के मानचित्र पर अंकित त्रिभुज, यही क्या तू है ?
नर के नभश्चरण की दृढ कल्पना नही क्या तू है ?
भेदों का ज्ञाता, निगूढताओं का चिर ज्ञानी है ;
मेरे प्यारे देश ! नही तू पत्थर है, पानी है।
जड़ताओं में छिपे किसी चेतन को नमन करूँ मैं ?
किसको नमन करूँ मैं भारत ! किसको नमन करूँ मैं ?

तू वह, नर ने जिसे बहुत ऊँचा चढ़कर पाया था ;
तू वह, जो सन्देश भूमि को अम्बर से आया था।
तू वह, जिसका ध्यान आज भी मन सुरभित करता है ;
थकी हुई आत्मा मे उड़ने की उमंग भरता है।
गन्ध-निकेतन इस अदृश्य उपवन को नमन करूँ मैं ?
किसको नमन करूँ मैं भारत ! किसको नमन करूँ मैं ?

शील मुकुट नरता का सब से बड़ी भव्यता का है ;
नहीं धर्म से बढ़ कर कोई मित्र सभ्यता का है।

दो हृदयों के तार जहाँ भी जो जन जोड़ रहे है,
मित्र-भाव की ओर विश्व की गति को मोड़ रहे है।
घोल रहे है जो जीवन-सरिता में प्रेम-रसायन,
खोल रहे हैं देश-देश के बीच मुँदे वातायन।
आत्मबन्धु कह कर ऐसे जन-जन को नमन करूँ मै।
किसको नमन करूँ मै भारत ! किसको नमन करूँ में?

उठे जहाँ भी घोष शान्ति का, भारत, स्वर तेरा है,
धर्म-दीप हो जिसके भी कर में वह नर तेरा है।
तेरा है वह वीर, सत्य पर जो अडने जाता है,
किसी न्याय के लिए प्राण अर्पित करने जाता है।
मानवता के इस ललाट-चन्दन को नमन करूँ में।
किसको नमन करूँ मै भारत ! किसको नमन करूँ मै?

१९५३ ई०]

अर्धनारीश्वर

एक हाथ में डमरु, एक में वीणा मधुर, उदार,
एक नयन मे गरल, एक मे संजीवन की धार।
जटाजूट में लहर पुण्य की शीतलता-सुख-कारी!
वालचन्द्र दीपित त्रिपुण्ड पर बलिहारी! बलिहारी,

प्रत्याशा में निखिल विश्व है, ध्यान देवता! त्यागो,
बाँटो, बाँटो अमृत, हिमालय के महान् ऋषि! जागो।
फेको कुमुद-फूल में भर-भर किरण, तेज दो, तप दो,
ताप-तप्त व्याकुल मनुष्य को शीतल चन्द्रातप दो।

सूख गये सर, सरित; क्षार निस्सीम जलधि का जल है;
ज्ञानघूर्णि पर चढा मनुज को मार रहा मरुथल है।
इस पावक को शमित करो, मन की यह लपट बुझाओ,
छाया दो नर को, विकल्प की इति से इसे बचाओ।

रचो मनुज का मन निरभ्रता लेकर शरद्गगन की,
भरो प्राण में दीप्ति ज्योति ले शान्त-समुज्ज्वल घन की।
पद्म-पत्र पर वारि-विन्दु-निभ नर का हृदय विमल हो,
कूजित अन्तर-मध्य निरन्तर सरिता का कलकल हो।

मही माँगती एक धार, जो सबका हृदय भिगोये,
अवगाहन कर जहाँ मनुजता दाह-द्वेष-विष खोये।
मही माँगती एक गीत, जिसमें चाँदनी भरी हो,
खिले सुमन, सुन जिसे वल्लरी रातों-रात हरी हो।

मही माँगती, ताल-ताल भर जाये श्वेत कमल से,
मही माँगती, फूल कुमुद के बरसे विधुमण्डल से।
मही माँगती, प्राण-प्राण में सजी कुसुम की क्यारी,
पाषाणों में गूँज गीत की, पुरुष-पुरुष में नारी।

लेशमात्र रस नही, हृदय की पपडी फूट रही है,
मानव का सर्वस्व निरंकुश मेधा लूट रही है।
रचो, रचो शाद्वल, मनुष्य निज में हरीतिमा पाये,
उपजाओ अश्वत्थ, क्लान्त नर जहाँ तनिक सुस्ताये।

भरो भस्म में क्लिन्न अरुणता कुंकुम के वर्षण से,
संजीवन दो ओ त्रिनेत्र ! करुणाकर ! वाम नयन से।
प्रत्याशा में निखिल विश्व है, ध्यान देवता ! त्यागो,
बाँटो, बाँटो अमृत, हिमालय के महान् ऋषि ! जागो।

१९५२ ई०]

राष्ट्र-देवता का विसर्जन

प्रकटे तुम पद-मर्दित नरता की पुकार पर,
पीकर मादक सुरा घृणा की पलते आये,
उन्मादों पर चढ़े, देश में जीवन डाला,
अंगारों पर धरकर चरण मचलते आये।

सुन पैरों की चाप जगा मानव-दल सारा,
भरतभूमि का चित्र तुम्हारा ध्यान बन गया।
भूल गये हम अगम-अगोचर के चिन्तन को,
पूजा का अधिकारी हिन्दुस्तान बन गया।

चमका स्वर्ण-किरीट हिमालय की चोटी पर,
दमक उठा गंगा मे उज्ज्वल हार तुम्हारा,
लिपटी बन कटि-सूत्र विन्ध्य की हरित श्रेणियाँ,
धोने लगा पदाम्बुज पारावार तुम्हारा।

तुम बोले, बोलने लगी मानवता गूँगी,
तुम ने इंगित किया, पंगु चल पड़ा सुपथ पर,
फिर तो जीवन और प्रगति की धूम मच गयी,
चमू चली, पीछे स्वदेश, आगे तुम रथ पर।

पैठे लेकर वह्निवेश तुम हृदय-हृदय में,
कण्ठ-कण्ठ में तुम ज्योतिर्मय घोष बन गये,
भेज दिया इस ओर शहीदो को वेदी पर,
उधर तुम्ही जनता का दारुण रोष बन गये।

तलवारों का जोर देह पर ही चलता है,
भावों की आँधियाँ नही काटे कटती है,
छाया हो जिस पर अजेय उन्माद तुम्हारा,
वह वरूथिनी किसे देख पीछे हटती है?

टूट गया प्राचीर तुम्हारे हुंकारों से,
दासों की बेड़ियाँ और जंजीर गल गयी,
ऐसा भी क्या चमत्कार! देखते-देखते,
आजादी की लता फूल कर तुरत फल गयी।

क्या कह जोड़े हाथ? चतुर्दिक् भूमण्डल पर,
तुमने आर्त्त जनों को जीवन-दान दिया है,
रोटी दी, गृह-वसन दिये, पर, सबसे बढकर,
मस्तक में गौरव, मन में अभिमान दिया है।

पर, क्या हो इस अहकार का, इस गौरव का?
यह प्रदीप नर की आत्मा के पास जलेगा?
या बनकर तलवार हृदय से बाहर आकर
कहाँ कौन द्वेषी है? यह खोजता चलेगा?

जलता है सब ओर यही अभिमान मनुज का,
जग मे है जो दाह, इसी गौरव का फल है,
राष्ट्रदेव! वह भी लेता है नाम तुम्हारा,
खीच रहा जो शान्ति-सुन्दरी का अंचल है।

भय से मुक्ति न मिली, मुक्ति का मोल रहा क्या ?
अभय कौन, नर से नर को ही त्रास अगर है ?
मही मुक्ति का स्वाद जान पायेगी कैसे,
मनुज स्वयं निज शंकाओं का दास अगर है ?

शंका की यह आग नहीं क्या बुझ पायेगी ?
देशों की दीवार तोड़ तुम जी न सकोगे ?
फैल रहा है जहर तुम्हारा जो धरती पर,
राष्ट्रदेवता ! उसे पुनः तुम पी न सकोगे ?

तो फिर होगा ध्वस तुम्हारे मन्दिर का भी,
भस्मासुर दो-एक नही, अब दल के दल है,
अवढर दानी ! बचो, विश्व को भी बचने दो,
अब तो सबकी शरण विष्णु के पद केवल है।

विष्णु प्रेम का स्रोत, विष्णु करुणा की छाया,
जब भी यह संसार प्रलय से दब जाता है,
उठती ऊपर अमृतवाहिनी शक्ति पुरुष की,
नाभिकुण्ड से कमल - पुष्प बाहर आता है।

खण्ड-प्रलय हो चुका, राष्ट्रदेवता ! सिधारो,
क्षीरोदधि को अब प्रदाह जग का धोने दो,
महानाग फण तोड़ अमृत के पास झुकेगा,
विषधर पर आसीन विष्णु-नर को होने दो।

२६ जनवरी, १९५३ ई०]

लोहे के पेड़ हरे होंगे

लोहे के पेड़ हरे होंगे, तू गान प्रेम का गाता चल,
नम होगी यह मिट्टी जरूर, आँसू के कण बरसाता चल।

सिसकियों और चीत्कारों से, जितना भी हो आकाश भरा,
कंकालों का हो ढेर, खप्परों से चाहे हो पटी धरा।
आशा के स्वर का भार, पवन को लेकिन, लेना ही होगा,
जीवित सपनों के लिए मार्ग मुर्दों को देना ही होगा।
रंगों के सातो घट उँड़ेल, यह अँधियाली रँग जायेगी,
ऊषा को सत्य बनाने को जावक नभ पर छितराता चल।

आदर्शों से आदर्श भिड़े, प्रज्ञा प्रज्ञा पर टूट रही,
प्रतिमा प्रतिमा से लड़ती है, धरती की किस्मत फूट रही।
आवर्त्तों का है विषम जाल, निरुपाय बुद्धि चकराती है,
विज्ञान-यान पर चढ़ी हुई सभ्यता डूबने जाती है।
जव-जब मस्तिष्क जयी होता, संसार ज्ञान से जलता है,
शीतलता की है राह हृदय, तू यह संवाद सुनाता चल।

सूरज है जग का बुझा-बुझा, चन्द्रमा मलिन-सा लगता है,
सब की कोशिश बेकार हुई, आलोक न इनका जगता है।
इन मलिन ग्रहो के प्राणों मे कोई नवीन आभा भर दे,
जादूगर! अपने दर्पण पर घिसकर इनको ताजा कर दे।
दीपक के जलते प्राण, दिवाली तभी सुहावन होती है,
रौशनी जगत को देने को अपनी अस्थियाँ जलाता चल।

क्या उन्हे देख विस्मित होना, जो हैं अलमस्त बहारों में,
फूलो को जो है गूँथ रहे सोने-चाँदी के तारों में?
मानवता का तू विप्र, गन्ध-छाया का आदि पुजारी है,
वेदना-पुत्र! तू तो केवल जलने भर का अधिकारी है।
ले बडी खुशी से उठा, सरोवर में जो हँसता चाँद मिले,
दर्पण में रचकर फूल, मगर, उसका भी मोल चुकाता चल।

काया की कितनी धूम-धाम? दो रोज़ चमक बुझ जाती है;
छाया पीती पीयूष, मृत्यु के ऊपर ध्वजा उड़ाती है।
लेने दे जग को उसे, ताल पर जो कलहस मचलता है,
तेरा मराल जल के दर्पण में नीचे-नीचे चलता है।
कनकाभ धूल झर जायेगी, ये रंग कभी उड़ जायेंगे,
सौरभ है केवल सार, उसे तू सबके लिए जुगाता चल।

क्या अपनी उनसे होड़, अमरता की जिनको पहचान नही,
छाया से परिचय नही, गन्ध के जग का जिनको ज्ञान नही?
जो चतुर चाँद का रस निचोड़ प्यालो में ढाला करते है,
भट्ठियाँ चढाकर फूलों से जो इत्र निकाला करते है।
ये भी जागेंगे कभी, मगर, आधी मनुष्यतावालों पर,
जैसे मुसकाता आया है, वैसे अब भी मुसकाता चल।

सभ्यता-अंग पर क्षत कराल, यह अर्ध-मानवों का बल है,
हम रोकर भरते उसे, हमारी आँखों मे गंगाजल है।
शूली पर चढ़ा मसीहा को वे फूले नही समाते है,
हम शव को जीवित करने को छायापुर में ले जाते है।
भीगी चाँदनियो में जीता, जो कठिन धूप में मरता है,
उजियाली से पीडित नर के मन मे गोधूलि बसाता चल।

यह देख नयी लीला उनकी, फिर उनने बड़ा कमाल किया,
गाँधी के लोहू से सारे भारत-सागर को लाल किया।
जी उठे राम, जी उठे कृष्ण, भारत की मिट्टी रोती है,
क्या हुआ कि प्यारे गाँधी की यह लाश न जिन्दा होती है?
तलवार मारती जिन्हे, बाँसुरी उन्हे नया जीवन देती,
जीवनी-शक्ति के अभिमानी! यह भी कमाल दिखलाता चल।

धरती के भाग हरे होंगे, भारती अमृत बरसायेगी,
दिन की कराल दाहकता पर चाँदनी सुशीतल छायेगी।
ज्वालामुखियों के कण्ठों मे कलकण्ठी का आसन होगा,
जलदो से लदा गगन होगा, फूलो से भरा भुवन होगा।
बेजान, यन्त्र-विरचित, गूँगी, मूर्तियाँ एक दिन बोलेगी,
मुँह खोल-खोल सबके भीतर शिल्पी! तू जीभ बिठाता चल।

१९५१ ई०]

हिमालय का सन्देश

[चिन्ताव्यजक सगीत]

कवि

तर्क से तर्कों का रण छिड़ा, विचारों से लड़ रहे विचार,
ज्ञान के कोलाहल के बीच डूबता जाता है संसार।

और सबका उलटा परिणाम, बुद्धि का जितना बढ़ता ज़ोर,
आदमी के भीतर की शिरा हुई जाती कुछ और कठोर।

ज्ञान के मरु में चलता हुआ आदमी खोता जाता है,
हृदय के सर का शीतल वारि और कम होता जाता है।

बुद्धि तृष्णा की दासी हुई, मृत्यु का सेवक है विज्ञान,
चेतता तब भी नही मनुष्य, विश्व का क्या होगा भगवान?

[बाँसुरी का आशाव्यजक सगीत]

पहला स्वर

तेज़ करो मत धार चंचु की, विष की बात न बोलो,
बाज़, पंख से बँधी कटीली तलवारों को खोलो।

बरसाओ मत आग नयन से, शीतलता छाने दो,
ऊपर उड़ते हुए हंस को भू पर अब आने दो।
बीत चली गर्मी, पावस के आने की बारी है,
शान्तिदूत के स्वागत की घर-घर में तैयारी है।

[दूरागत समवेत गान]

दाह भू का हरो, पन्थ शीतल करो,
विश्व का सर भरो वारि की धार से,
ओस का जाल दो, चाँदनी डाल दो,
आदमी का हृदय सींच दो प्यार से।
शान्ति के हंस को, धर्म-अवतंस को,
अंक में लो, इसे प्रेम दो, मान दो;
हो जहाँ भी जहर, क्षीर की दो लहर,
बाण की नोंक पर फूल को तान दो।

दूसरा स्वर

[विद्रूप हंसी के साथ]

शान्ति !!
कहीं दूध के बिना तरसती मानव की सन्तान,
कहीं क्षीर के मटके खाली करते जाते श्वान।
कहीं वसन रेशम के सस्ते, महँगी कहीं लँगोटी,
कोई घी से नहा रहा, मिलती न किसी को रोटी।
इस समाज की एक दवा है आग और उत्क्रान्ति।
शान्ति !!

तीसरा स्वर

हिंसा नहीं, हिंसा नहीं।
नर में छिपी जो आग है, उसको न उत्तेजित करो,
जितना बने, संसार में माधुर्य, शीतलता भरो।

है क्या उचित नर को चलाना लाठियों के ज़ोर से?
सकता कभी हो व्यक्ति का मन तृप्त नीति कठोर से?

बदला जगत् का ध्येय, साधन भी बदलना चाहिए,
तजकर घृणा, नर को प्रणय-पथ पर निकलना चाहिए।

बदलो मनुज को यों कि वह अपनी कमी पहचान ले,
तुम चाहते जो कुछ, मनुज उसको हृदय से मान ले।

जंजीर कसते हो जहाँ, वह आदमी की देह है,
बसता जहाँ मन, वह बहुत भीतर हृदय का गेह है।

मन तक पहुँचने को नही यह लौहमय रथ चाहिए,
इसके लिए तो गन्ध-स्यन्दन, फूल का पथ चाहिए।

करके दलन नर में जगाओ बन्धु, प्रतिहिसा नही।
हिसा नही, हिसा नहीं।

चौथा स्वर

वृथा है यह पावन उपदेश।
हिसा नर की मलिन वृत्ति है, किसको यह अविदित है?
नर के विमल शील की महिमा किसपर नही विदित है?

किन्तु, शिला को भेद नही पाती जब प्रेम-पुकार,
खुलता नहीं द्वार अन्तर का, विनय मानती हार।

तब मनुष्य की भुजा पराजय वाणी की हरती है;
तोड़ लौह-अर्गला द्वार का उन्मोचन करती है।

हिसा है तब तक जब तक नर में पशुत्व है शेष।
व्यर्थ है यह पावन उपदेश।

कई स्वर

[समवेत गान]

भूख लगी है, रोटी दो।
मन में नही प्रदीप हमारे, तन में दाहक आग,
हम न जानते हिंसा-प्रतिहिंसा का यह खटराग।

जिनका उदर पूर्ण हो वे सोचे चाहे जो बात,
हम भूखों को सिर्फ चाहिए एक वसन, दो भात।
भूख लगी है, रोटी दो।

पाँचवाँ स्वर

[सोचने की मुद्रा मे]

"भूख लगी है, रोटी दो।"
कितनी कडी, मगर, कितनी सच्ची है यह आवाज!
रोक सकेगा इसे कहाँ तक कोई शाही ताज!
"भूख लगी है रोटी दो।"
सच है, अगर लोग भूखे हैं, भूख मिटानी ही होगी,
चाहे मिले जहाँ लेकिन, रोटी तो लानी ही होगी।
"भूख लगी है, रोटी दो।"
सच तो है, रोटियाँ नही तो क्या ये कविता खायेंगे?
थाली में धरकर विराट कवियों के गीत चबायेंगे?

छठा स्वर

इत घेरों को दूर करो।
मन के चारो ओर लकीरें, नही सोचने भी दोगे?
रोटी देकर क्या चिन्तन का भी अधिकार छीन लोगे?

अजब मुसीबत ! पहले तो रोटी को जन बिललाता है,
और रोटियाँ मिली अगर तो मन कैदी हो जाता है।

मन के ऊपर पड़े शिलामय प्राचीरों को चूर करो।
इन घेरों को दूर करो।

सातवाँ स्वर

चिन्तक, यह तेरा भ्रम है।
नही खीचते हम रेखाएँ, केवल राह बताते हैं,
बहके हुए विचारों को हम ठीक विन्दु पर लाते हैं।

चिन्ता सच्ची वही जो कि जनजीवन में बल भरती है,
नर की बिखरी हुई शक्ति को भू पर केन्द्रित करती है।

मिलती कौन वस्तु जनमन को इधर-उधर भटकाने से?
पेट भरेगा कभी मनुज का गीत स्वप्न का गाने से?

इस असंख्य भूखी जनता से तेरी कला बड़ी है क्या?
जिस विलास का तू प्रेमी है, उसकी आज घड़ी है क्या?

पाप-पुण्य की कडी, कल्पना नरक-स्वर्ग की टूट चुकी,
देख, मनुज के नये भाग्य की किरण गगन पर फूट चुकी।

इस मनुष्य का धर्म स्वेद है, ईश्वर अविश्रान्त श्रम है,
समझ नहीं पाता इसको तो चिन्तक, यह तेरा भ्रम है।

छठा स्वर

समझता हूँ, लेकिन क्या करूँ?
नीचे खिलते फूल और ऊपर जगमग तारे हैं,
मिट्टी और गगन मुझको तो दोनों ही प्यारे हैं।

मृत्ति न हो तो मूल पुष्प का किसमें करे निवास ?
खिले कहाँ पर सुमन, नहीं ऊपर हो यदि आकाश ?

किन्तु, गरज उठती विपत्तियाँ जिस दिन जनजीवन की,
कौन जानता व्यथा हाय, उस दिन चिन्तक के मन की ?

आँख फेर ले इस विपत्ति से, ऐसा कौन कठोर ?
तन से बँधे कला, पर, कैसे मन से नाता तोड़ ?

गगन भूमि मे कैसे केवल किसी एक को वरूँ ?
समझता हूँ, लेकिन क्या करूँ ?

कई स्वर

[समवेत]

रोटी और अभय भी दो।
तन को दो आहार अन्न का, मन को चिन्तन का अधिकार,
तन-मन दोनो बढें अगर तो चमक उठे, सचमुच संसार।
बाधामुक्त करो मानस को, शंकारहित हृदय भी दो।
रोटी और अभय भी दो।

[करुण वाद्य सगीत]

कवि

विचारों की आँधी विकराल।
उठा रही मानस-समुद्र में चटुल ऊर्मि उत्ताल।
हिला रही लाकर झकोर में विश्व-विटप की डाल।
टकरा रहे सपक्ष क्रुद्ध आदर्शो से आदर्श,
चढ़ता ज्यों-ज्यो समय, और बढ़ता जाता संघर्ष।
उड़ती है प्रत्येक दिशा में चिनगारियाँ कराल।
विचारो की आँधी विकराल।

[भीषण वाद्य-संगीत। धमाके से युद्ध के देवता के कूदने की आवाज़ और उसका अट्टहास।]

युद्ध-देवता

झन झन झन झन झन झनन झनन
झन झन झन झन झन झनन झनन।

है बड़ा जोर आदर्शों का, हलचल है खूब विचारों की,
चल रही रोज ही खोज शान्ति के नये-नये आधारों की।
पर देखें, शान्ति महीतल पर किस ओर क्षितिज से आती है,
मेरी कराल दंष्ट्राओं से पृथ्वी कैसे बच पाती है?
मेरी फुंकारों की ज्वाला, देखें, करता है कौन शमन!
झन झन झन झन झन झनन झनन।

मैं संग्रामों का देव मही को मरघट करने आया हूँ,
नर के मन को विद्वेष, घृणा, तृष्णा से भरने आया हूँ।
कहता हूँ, संचय करो, लूट भी, चोरी भी अर्जन ही है,
जैसे भी पाओ विभव, आत्मसुख का समस्त सर्जन ही है।
अपने विकास के लिए किये जाओ समस्त भू का शोषण।
झन झन झन झन झन झनन झनन।

मेरी शिक्षा का सार, एक अपनेपन का सत्कार करो,
जो धर्म, जाति, कुल हो अपना, तुम केवल उससे प्यार करो।
सबसे अच्छा विश्वास जिसे तुमने पुरखों से पाया है,
सबसे अच्छा है धर्म वही जिसको तुमने अपनाया है।
खुलकर विधर्मियों पर करते जाओ हालाहल का वर्षण।
झन झन झन झन झन झनन झनन।

तुम जिसे मानते आये हो, उद्देश्य सभी से अच्छा है,
जन्मे हो जहाँ, जगत् भर मे वह देश सभी से अच्छा है।

तुम सर्वश्रेष्ठ हो जाति, सदा यह हठ पवित्र करते जाओ,
इस अहंकार के पालन में मारते और मरते जाओ।
जो नही मानता हो तुमको, ठानो उस अभिमानी से रण।
झन झन झन झन झन झनन झनन।

मेरा संकल्प, महावसुधा को एक नही होने दूंगा,
मैं विश्वदेवता का भू पर अभिषेक नही होने दूंगा।
रेखाएँ खीच महीतल के सौ खण्ड युक्ति से काटे है,
देशो में अलग-अलग झण्डे मैंने न व्यर्थ ही बाँटे है।
इन झण्डो के नीचे पृथ्वी भोगती रहे अंगच्छेदन।
झन झन झन झन झन झनन झनन।

है कहाँ विश्व-मानव ? जो है केवल स्वदेश के प्राणी है,
मानवता नही, मातृभू की महिमा के सब अभिमानी है।
जब तक ये झण्डे फहर रहे, अभिमान नही यह सोता है,
देखें तो, तब तक विश्व-मनुज का जन्म कहाँ से होता है ?
मै राष्ट्रवाद का सखा, कौन तोड़ेगा मेरा सम्मोहन ?
झन झन झन झन झन झनन झनन।

[अट्टहास करता है। पृथ्वी के कराहने की आवाज।]

कवि

यह प्रदाह ! यह रोर भयानक ! यह वेदना अशेष !
तू भी होगा सखा युद्ध का मेरे प्यारे देश ?

तृष्णा की पंकिल तरंग मे तू भी खो जायेगा ?
या तेरा शुभ कलश कमल-सा ऊपर लहरायेगा ?

पड़कर इस भीषण झकोर मे धीरज पाल सकेगा ?
वसुधा को विष के विवर्त से वीर ! निकाल सकेगा ?

या तू भी चलते-चलते, आख़िर, होकर लाचार?
वही राह पकडेगा, जिस पर विनश रहा संसार?

शकाएँ है बहुत, मगर, तब भी यह बात सही है,
दुनिया तेरी ओर किसी आशा से ताक रही है।

चन्दन के रथ पर चढ कर आनेवाला यह देश
सब कहते है, लाया है कोई नवीन सन्देश।

मूक न रह, टुक बोल, हिमालय!
लोचन के पट खोल हिमालय!
अबकी बार जगत पायेगा
मन्त्र कौन अनमोल हिमालय!
जिस युग का विज्ञान वह्नि हो, विद्या धन की दासी हो,
जिसका शिल्प मृत्यु-पूजक, सभ्यता रुधिर की प्यासी हो।

उस युग का कल्याण कहाँ है?
दुख से उसका त्राण कहाँ है?
मूँदे जिसने नयन धर्म से
उसका फिर उत्थान कहाँ है?
भागी जाती ज्योति, ज्ञान करता किसकी रखवाली है?
सब कुछ पाकर भी मनुष्य क्यों इतना ख़ाली-ख़ाली है?

यह रहस्य बतलायेगा क्या?
शंका-तिमिर हटायेगा क्या?
उलट गया जो दीप उसे
सीधा करके दिखलायेगा क्या?
योगेश्वर! क्यों मची हुई इतनी अशान्ति भारी है?
ले जाने को कहाँ जगत् को युग की तैयारी है?

[पहाड फटने की आवाज]

हिमालय

(१)

लिये अन्तर मे व्यथा अथाह।
हम भी तो दिन-रात यही सोचा करते है मौन,
पृथ्वी पर अवतरित हुआ आलोक नया यह कौन?
पाकर जिसे बढ़ी जाती है और अधिक उद्भ्रान्ति,
अन्धकार के साथ दूर भागी जाती है शान्ति।
चढता ज्यो-ज्यो समय और बढता है हाहाकार।
बड़ी विपद में आन फँसा है, सचमुच ही ससार।

(२)

दिशाओं में किरणो की धूम, धौकता किरणो से आकाश,
गगन के रन्ध्र-रन्ध्र में बसा नये युग का प्रज्वलित प्रकाश।

जहाँ थी पहले थोडी छाँह, कुंज वे फूलों के भी गये,
कही पर भी द्वाभा का लेश नही छोडेगे पण्डित नये।

रहस्यो में करते विश्लेष चली दुनिया ऐसे मग से,
महीतल से रूठी गोधूलि, चाँदनी विदा हुई जग से।

धूप का ऐसा तना वितान, अँधेरा कठिनाई में फँसा,
भागने को न मिली जब राह, आदमी के भीतर जा बसा।

सघन जब हो उठता है तिमिर, दृष्टि कुछ देख न पाती है,
ज्योति भी होकर सीमातीत अन्धता ही उपजाती है।

एक काली होती अन्धता, ज्योति से जो पलती है दूर,
एक उजली होती जो सदा ज्ञान से ही रहती है चूर।

आज जो लगी हुई है आग, ज्ञान के घर से आयी है,
जगत् की आँखों पर रोशनी, अन्धता बनकर छायी है।

(३)

कभी सोचा भी है, तुम क्या हो ?
बल के अहंकार में भूले, भरे नित्य रहते हो,
सुनता हूँ, अपने को अपना ईश्वर भी कहते हो।

करते हो बन दास यन्त्र-चक्रों की नित्य गुलामी,
किन्तु, प्रकृति का कहते हो अपने को जेता-स्वामी।

नगरों को निर्मल रखने का ऐसा ढंग निकाला,
नदियों को कलुषित, समुद्र तक को दूषित कर डाला।

जीव-जन्तु को नशा, स्वच्छ कर डाला विपिन गहन को,
सब निचोड़ निस्तैल किये जा रहे मही के तन को।

लक्ष-लक्ष वर्षों के संचित खनिज लूट क्रम-क्रम से,
किये जा रहे रिक्त हृदय वसुधा का तुम निर्मम-से।

धरती का अन्तर खँगालना ही अब बड़ी प्रगति है,
हरियालियाँ जला कर ही अब करता जग उन्नति है।

यह सन्तुलन-विनाश प्रकृति का वृथा नही जायेगा,
आज दुखी है मनुज और कल निश्चय पछतायेगा।

करते नहीं प्रहार प्रकृति पर, गढ़ते क्लेश नया हो।
कभी सोचा भी है, तुम क्या हो ?

(४)

युगों में अद्‌भुत रूप तुम्हारा !
भू पर तुम-सा विज्ञ मूढ पहले न कभी आया था,
वसुधा पर अन्धा प्रकाश यह कभी नही छाया था।

नहीं वंशधर, तुम अतीत के, नूतन योनि अपर हो,
जो न कभी पहले जन्मा था, वह बौद्धिक बर्बर हो।

ज्ञान तुम्हारा अन्धकार है, किरण तुम्हारी तम है,
धर्म तुम्हारा ध्वंस, पूज्य देवता तुम्हारा यम है।

छाने तुमने अमित लोक, पर, मन को कभी न छाना,
लाखो आविष्कार किये, पर, अपना मर्म न जाना।

दृश्य-दृश्य रटते-रटते कुछ ऐसे दृश्य हुए तुम,
आत्मदेवता के मन्दिर में भी अस्पृश्य हुए तुम।

छूट गयी भाषा अदृश्य की अकथ कथा कहने की,
बकते-बकते भूल गये तुम महिमा चुप रहने की।

सतत चरियो! कभी-कभी रुक जाने मे भी सुख है।
अहंकार को भूल कही झुक जाने मे भी सुख है।

देख लिया, नीचे पृथ्वी, ऊपर अनन्त अम्बर है,
अब तो मानचित्र मे खोजो, कहाँ तुम्हारा घर है।

जान चुके, कर दौड-धूप कुछ और न जान सकोगे,
अब आगे का भेद ठहर कर ही पहचान सकोगे।

बिना रुके मिलता न शान्ति का शीतल कूल-किनारा।
युगों में अद्भुत रूप तुम्हारा।

(५)

कहे भी तो उससे क्या बात?
अभी भूख से ही जो प्राणी तड़प रहा दिन-रात,
रोटी की चिन्ता मे कटते जिसके सायं-प्रात।

दहक रहे भीषण क्षुधाग्नि से जिसके प्राण अभागे,
निर्दय है, दर्शन परोसता है जो उसके आगे।

रोटी दो, मत उसे गीत दो, जिसको भूख लगी है,
भूखों में दर्शन उभारना छल है, दगा, ठगी है।

रोटी और वसन, ये जीवन के सोपान प्रथम है,
नवयुग के चिन्तको! तुम्हे इसमें भी कोई भ्रम है?

व्यष्टि-समष्टि-विवाद व्यर्थ है, झगड़ा मनमाना है,
है समष्टि ही हार, व्यक्ति तो मोती का दाना है।

बूंदे जब गिरती समुद्र में, व्यथा कौन पाती हैं?
सागर में मिलकर अगाध सागर ही बन जाती है।

आते सारे भाव व्यक्तियों के समाज से छन कर,
पुन लौट जाते समष्टि में ही वे गायन बन कर।

जैसे मेघ धरा से उठ कर अम्बर पर घिरता है,
और वारि बन फिर वसुधा के ही तन पर गिरता है।

जहाँ व्यष्टि स्वाधीन अधिक है, नाश वहाँ छायेगा,
अनुशासन के बिना व्यक्ति कुछ प्राप्त न कर पायेगा।

झुक समष्टि के सम्मुख जिस दिन व्यष्टि दान देती है,
तभी व्यक्ति के भीतर, करुणा-विनय जन्म लेती है।

भरो विश्व-सर में करुणा के कमल सहज अवदात।
कहे भी तो उससे क्या बात।

(६)

वृथा मत लो भारत का नाम।
मानचित्र में जो मिलता है, नही देश भारत है,
भू पर नही, मनो मे ही, बस, कही शेष भारत है।

भारत एक स्वप्न, भू को ऊपर ले जानेवाला,
भारत एक विचार, स्वर्ग को भू पर लानेवाला।

भारत एक भाव, जिसको पाकर मनुष्य जगता है,
भारत एक जलज, जिस पर जल का न दाग लगता है।

भारत है संज्ञा विराग की, उज्ज्वल आत्म-उदय की,
भारत है आभा मनुष्य की सबसे बड़ी विजय की।

भारत है भावना दाह जग-जीवन का हरने की,
भारत है कल्पना मनुज को राग-मुक्त करने की।

जहाँ कही एकता अखण्डित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश-देश में खड़ा वहाँ भारत जीवित, भास्वर है।

भारत वहाँ, जहाँ जीवनसाधना नही है भ्रम मे,
धाराओ को समाधान है मिला हुआ संगम में।

जहाँ त्याग माधुर्यपूर्ण हो, जहाँ भोग निष्काम,
समरस हो कामना, वही भारत को करो प्रणाम।
वृथा मत लो भारत का नाम।

(८)

साधना इस व्रत की भारी।
पग-पग पर हिंसा की ज्वाला, चारों ओर गरल है।
मन को बाँध शान्ति का पालन करना नही सरल है।

तब भी जो नर-वीर असिव्रत दारुण पाल सकेंगे,
वसुधा को विष के विवर्त से वही निकाल सकेंगे।

मना रहे क्यों, यह व्रतपाली केवल भारत होगा?
शेष विश्व हिंसा-लिप्सा मे, इसी भाँति, रत होगा?

किसी एक को नही बदलना होगा साथ सभी को,
करना होगा ग्रहण शील भारत का निखिल मही को।

शमित करेगा कौन वह्नि प्रहरी का जाल बिछा कर?
रोकेगा विस्फोट विश्व को बल से कौन दवा कर?

तब उतरेगी शान्ति, मनुज का मन जब कोमल होगा,
जहाँ आज है गरल, वहाँ शीतल गंगाजल होगा।

देश-देश में जाग उठेंगे जिस दिन नर-नारी।
साधना इस व्रत की भारी।

(८)

धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो।

शील मुकुट नरता का, सबसे बड़ी भव्यता का है,
नही धर्म से बढकर कोई मित्र सभ्यता का है।

नरी बुद्धि के लिए भावना का मत दलन करो रे!
जो अदृश्य प्रहरी है, उससे भी तो कभी डरो रे!

शान्ति चाहते हो तो पहले सुमति शून्य से माँगो,
नवयुग के प्राणियो! ऊर्ध्वमुख जागो, जागो, जागो।
धर्म को, श्रद्धा को मत त्यागो।

॥ समाप्त ॥